विवेकानन्द आश्रम
रायपुर

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स/विधा/टा/५६४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण – विवेकानन्द – भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी – मार्च १९६८

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

सह-सम्पादक एवं व्यवस्थापक
संतोषकुमार झा

विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (मध्यप्रदेश)
फोन नं. १०४६

विवेक-ज्योति नियमावली

वार्षिक चन्दा	भारत में – ४)	एक अंक का – १)
	विदेशों में – २ डालर या १० शिलिंग	

ग्राहकों के लिये –

१. 'विवेक-ज्योति' जनवरी, अप्रेल, जुलाई और अक्तूबर महीने में प्रकाशित होती है। इसका वार्षिक चन्दा मनीआर्डर से भेजना चाहिये। पिछली प्रतियाँ बाकी रहने पर ही भेजी जा सकती हैं।

२. ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक-संख्या, नाम और पता स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिये।

३. यदि कोई अंक न मिले, तो डाकखाने में पहले पूछताछ करनी चाहिये। जिस अवधि का अंक न मिला हो उसी अवधि में सूचना प्राप्त होने पर, अंक की प्रति बची रहने पर ही भेजी जायगी।

४. यदि पता बदल गया हो, तो उसकी सूचना तुरन्त दी जानी चाहिये।

लेखकों के लिये –

१. 'विवेक-ज्योति' में आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक लेख तो रहेंगे ही, पर शिक्षा, मनोविज्ञान, कला, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान प्रभृति महत्वपूर्ण विषयों पर जीवन के उच्चतर मूल्य सम्बन्धी लेख भी उसमें प्रकाशित किये जायेंगे। उसी प्रकार उच्च भावों की प्रेरणा देने वाले ऐतिहासिक और राष्ट्रीय चरित्रों के लिये भी इस त्रैमासिक में स्थान रहेगा।

सुसंस्कृत अभिरुचिपूर्ण कविता, विशिष्ट दृष्टिकोण से लिखे मये यात्रा प्रमंग तथा पुस्तकों की समीक्षा को भी इसमें स्थान प्राप्त होगा।

२. किसी प्रकार की व्यक्तिगत या विघातक टीका के लिये 'विवेक-ज्योति' में स्थान न रहेगा।

३. लेख में प्रतिपादित मत के लिये लेखक ही जिम्मेदार रहेगा।

४. लेख को प्रकाशन के लिये स्वीकृत करने पर उसकी सूचना एक माह के भीतर दी जायगी। अस्वीकृत रचनाएँ आवश्यक टिकट प्राप्त होने पर ही वापस की जायेंगी।

५. यदि लेख एक अनुवाद हो, तो लेखक को साथ में यह भी सूचना देनी चाहिये कि अनुवाद की आवश्यक अनुमति ले ली गयी है।

६. कागज के एक ही ओर सुवाच्य अक्षरों से लिखे जायँ।

७. लेख सम्बन्धी पत्र-व्यवहार सम्पादक से करना चाहिये।

—व्यवस्थापक

—: सूचना :—

'विवेक-ज्योति' के पिछले अंकों की कुछ प्रतियाँ प्राप्य हैं। जो इन पिछले अंकों का संग्रह करना चाहते हैं वे १) की एक प्रति के हिसाब से खरीद सकते हैं। सुन्दर उद्बोधक विचारप्रवण लेखों से परिपूर्ण 'विवेक-ज्योति' का हर अंक संग्रहणीय है।

—व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति'

फार्म ४ रूल ८ के अनुसार

'विवेक-ज्योति' विषयक ब्योरा

१. प्रकाशन का स्थान	नवभारत प्रिन्टर्स, रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिता	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम	स्वामी आत्मानन्द
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
४. प्रकाशक नाम	स्वामी आत्मानन्द
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
५. सम्पादक का नाम	स्वामी आत्मानन्द
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
६. स्वत्वाधिकारी	स्वामी आत्मानन्द, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर) स्वामी आत्मानन्द

सूचना ! सूचना !

आजीवन सदस्य योजना

हम इस वर्ष से अर्थात् जनवरी १९६८ से 'विवेक-ज्योति' के लिए आजीवन सदस्य योजना का प्रारम्भ कर रहे हैं। इसका शुल्क १००) (एक सौ रुपया) होगा। इस योजना के अनुसार सदस्य बन जाने पर आपको 'विवेक-ज्योति' आजीवन प्राप्त होती रहेगी। इस बीच आगे चलकर यदि 'विवेक-ज्योति' हर दो महीने में निकलने लगे अथवा भविष्य में वह मासिक हो जाय तो भी आपको बिना अतिरिक्त शुल्क पटाए 'विवेक ज्योति' नियमित रूप से जीवन पर्यन्त प्राप्त होती रहेगी।

कृपया १००) विवेक ज्योति कार्यालय को भेजकर इसके आजीवन सदस्य बनें, और अपने इष्ट मित्रों को बनावें और इस प्रकार हमें सहयोग प्रदान करें।

आजीवन सदस्यों का नाम और पता 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित किया जाएगा।

—व्यवस्थापक
विवेक-ज्योति

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र-परिचय : स्वामी विवेकानन्द
(लंदन में क्लास लेते हुए, १८९५ ई०)

" न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते "

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण – विवेकानन्द – भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ६] जनवरी–फरवरी–मार्च [अंक १

वार्षिक शुल्क ४) ❋ १९६८ ❋ एक प्रति का १)

ज्ञान का भी नाश

अज्ञानकलुषं जीवं
ज्ञानाभ्यासाद्विनिर्मलम् ।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येत्
जलं कतकरेणुवत् ॥

– जैसे रीठे का चूर्ण मटमैले जल को साफ करके स्वयं नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान के अभ्यास द्वारा अज्ञान की कालिमा से युक्त जीव के निर्मल होने पर ज्ञान अपने-आप विनष्ट हो जाता है।

—आत्मबोध, ५ ।

पूर्वजन्म के संस्कार

एक समय की बात है। किसी नगर में एक शक्तिसाधक था। जगन्माता काली को प्रसन्न करने के लिए उसने बरसों साधनाएँ कीं। एक गम्भीर रात्रि में वह शवसाधना कर रहा था, निबिड़ वन में भगवती की उपासना कर रहा था। साधनाकाल में वह बड़ी भयावह बातें देखने लगा और अन्त में उसे एक बाघ उठा ले गया। एक दूसरा व्यक्ति बाघ के भय से समीप के ही एक वृक्ष में छिपा हुआ बैठा था। उसने देखा कि शवसाधना के लिए शव और अन्यान्य सामग्री तैयार है। वह वृक्ष के नीचे उतरा और आचमन करके शव पर बैठ गया। उसके थोड़ा जप करते ही भगवती प्रकट हो गयी और बोली, "मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। वरदान माँग लो।" माता के चरणों में प्रणिपात होकर वह बोला, "माँ! एक बात पूछूँ? तुम्हारी लीला देखकर तो मैं चकित हूँ! उस व्यक्ति ने कितने परिश्रम से तुम्हारी पूजा का सारा आयोजन किया था, वह कबसे तुम्हारी साधना करता आ रहा था, पर उस पर तुम्हारी दया न हुई! देखो तो भला, उसकी कैसी दुर्गति हो गयी! और मैं न तो कुछ जानता हूँ, न सुनता हूँ, सब प्रकार से भजनहीन हूँ, साधनहीन हूँ ज्ञान और भक्ति

से भी इतनी दूर हूँ, पर मुझ पर, तुम्हारी इतनी कृपा हो गयी !"

भगवती हँसते हँसते बोली, "मेरे बच्चे, तुम्हें अपने जन्म-जन्मान्तर की बात याद नहीं है। तुमने कितने जन्म मेरे लिए तपस्या की है, यह तुम नहीं जानते हो। उसी पूर्वजन्म की साधना के प्रभाव से तुम्हें यह संयोग प्राप्त हुआ है और इसी से तुम मेरा दर्शन पा सके। अब बोलो, क्या वरदान चाहते हो ?"

कथा का तात्पर्य यह है कि सामान्य जन वर्तमान जीवन को भेदकर अतीत के जीवन को नहीं देख सकते, इसलिए कभी-कभी ईश्वर अथवा नियति पर वे पक्षपात का दोषारोपण करते हैं। पर वास्तव में ईश्वर एक शाश्वत नियम है। नियति नियम के अनुसार अपना कार्य करती है। ऊपर से देखने पर भले ही ऐसा लगे कि वह व्यक्ति योग्यता के बिना ही दुर्लभ वस्तुएँ प्राप्त कर रहा है, पर उसके पीछे भी उसका अदृश्य ही कार्य करता है। कभी-कभी ऐसा दिखाई पड़ता है कि साधारण दीखने वाले व्यक्ति में अचानक ज्ञानी के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। इसका मतलब ईश्वर का उसके प्रति पक्षपात नहीं है बल्कि उसके पूर्वजन्म के संस्कारों का उदय है। इसीलिए शास्त्रों में यह जो कहा गया है कि किसी भी कर्म का नाश नहीं होता वह सत्य

है। प्रत्येक शुभ अथवा अशुभ कर्म, प्रत्येक शुभ अथवा अशुभ विचार एक संस्कार छोड़ जाता है और संस्कार के रूप में वह सूक्ष्म रूप से चित्त के कोष में जाकर संचित हो जाता है। अगले जन्मों में अनुकूल समय पाकर ये पूर्वजन्म के संस्कार प्रकट होते हैं।

अत: मनुष्य को चाहिये कि वह वर्तमान को पवित्र और स्वच्छ कार्यों एवं विचारों से भर ले। भविष्य को ज्योतिर्मय, बली और अनुकूल बनाने का यही उपाय है।

●

निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः।
सर्वार्थाः व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति :।

—जो पुरुष निरुत्साह, दीन और शोकाकुल रहता है, उसके सब काम बिगड़ जाते हैं और वह बहुत बड़ी विपत्ति में पड़ जाता है।

—वाल्मीकी

दिव्यता का पथ

ब्रम्हलीन स्वामी यतीश्वरानन्द जी महाराज

'क्षुरस्य धारा निषीता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ।' -कठोपनिषद्

नैतिक जीवन और आत्मानुभव-

वेदान्ती कहता है -"केवल निस्वार्थ कर्म करना अथवा नैतिक जीवन का पालन करना मात्र पर्याप्त नहीं है। यदि तुम निष्ठा के साथ अपने कर्तव्यों का निर्वाह करते हो तो उतना ही पर्याप्त नहीं है। तुम्हें और कुछ करना पड़ेगा। तुम्हें उच्चतम दिव्य ज्ञान की प्राप्ति करनी होगी और इस प्रकार सर्वोच्च लक्ष्य को पा लेना होगा।"

परोपकार के कार्य और नैतिक जीवन उच्चतर आध्यात्मिक जीवन के सोपान मात्र हैं। चित्त की शुद्धि के लिए हमें इनमें से होकर जाना पड़ता है। चित्त के बिना शुद्ध हुए उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। मन के छिपे हुए कोनों में जो मैल भरा है उसे दूर करने के लिए दृढ़ नैतिक जीवन, नि:स्वार्थ भाव से दूसरों के हित के लिए किये गये कार्य, स्वाध्याय और आध्यात्मिक साधनाएँ आवश्यक हैं। हृदय में दिव्य ज्ञान का

प्रकाश इसी राह से अवतरित होता है।

ज्ञानी पुरुष का आचरण—

आज हम अपने को देह से एकरूप अनुभव करते हैं, जबकि ज्ञानी पुरुष समझता है कि शरीर एक अस्थायी निवास केन्द्र है और वह उसका सच्चा स्वरूप नहीं है। यह सत्य है कि वह भी शरीर से क्रियाएँ करता है और जिसे हम कर्तव्य कहते हैं उसका भी निर्वाह करता है, पर वह हर समय अपने कर्मों का साक्षी बना रहता है। वह सर्वदा यह जानता है कि वह शरीर नहीं है। वह अपने आपको नर या नारी, युवा अथवा वृद्ध नहीं समझता। वह अपने को देह से सर्वथा भिन्न समझता है। वह देह और मन से भी अतीत अपने स्वरूप का अनुभव करता है। वह जानता है कि वह आत्मा है। भले ही उसे बोध हो कि वह कर्म कर रहा है, पर उसका यह बोध हमारे बोध से सर्वथा भिन्न है। उसके बोध में देह और आत्मा की एकरुपता का लेश-मात्र भी नहीं रहता। उसका अहंकार मात्र एक छाया है। वह अपने इस अहंकार से बद्ध नहीं होता।

जब तक हम अपने आप पर पूरा नियंत्रण नहीं कर लेते तब तक ज्ञानी पुरुष की स्थिति की कल्पना हम सम्यक् रूप से नहीं कर सकते। सर्व प्रथम शरीर

और मन पर संयम के द्वारा हम सबके प्रति अनासक्त हो जायँ, संसार में किसी वस्तु से हमारा लगाव न रहे। हम बाहर और भीतर दोनों की शुद्धता प्राप्त करें और इस प्रकार उच्चतम ज्ञान के प्राकट्य के लिये अपने को योग्य बना लें। तभी हम ज्ञानी पुरुष के आचरण को समझ सकते हैं।

सच्चे ज्ञान की कसौटी–

जिसने नैतिक संस्कार के द्वारा शरीर और मन को शुद्ध कर लिया है वही 'निष्क्रिय आत्मा' का अनुभव कर सकता है; वही जान सकता है कि यह आत्मा ही एकमात्र सत्य है, यही प्रकृत सत्ता है। जिसमें नैतिकता के संस्कार नहीं है, वह बुद्धि के भ्रम में पड़कर क्रियाहीनता और जड़ता को ही आत्मा की अवस्था मान लेता है और इस प्रकार दुर्गति को प्राप्त होता है। समदर्शित्व की घोषणा मात्र से कोई समदर्शी नहीं बन जाता। ऐसी घोषणा करने वाले व्यक्ति को कसौटी पर कसना चाहिए। गीता (६।२९) में समदर्शी व्यक्ति की कसौटी दर्शाते हुए कहा है–

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

–अर्थात्, 'जिसका चित्त योग के द्वारा समाहित हो गया है और जो सर्वत्र समदृष्टि रखता है, ऐसा

व्यक्ति अपनी आत्मा को सर्वभूतों में स्थित देखता है और सब भूतों को अपनी आत्मा में ।' यदि कोई व्यक्ति ज्ञानी होने का दावा करें और साथ ही इन्द्रिय–भोगों के पीछे उतावला होकर दौड़े, जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों में यदि वह विचलित हो जाय और आसक्ति के फेर में पड़कर सुख–दुःख का अनुभव करे, तो यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि उसके उस तथाकथित ज्ञान में कहीं पर भयंकर गड़बड़ी है। सच्चा ज्ञानी पुरुष क्षणभंगुर मानवीय सम्बन्धों और सुख–भोगों के पीछे नहीं दौड़ता। उसका प्रज्वलित ज्ञान उसे हरदम मिथ्या और भ्रम की ओर ले जाने से रोकता है।

अत: दिव्यता के पथ पर चलने वाले साधक को चाहिये कि वह अपने मन में किसी प्रकार के मानव–सम्बन्ध के प्रति आसक्ति को न पनपने दे। वह संसार के खोखलेपन को जानकर वस्तुओं के प्रति लगाव का त्याग करे। उसके लिए उसे अपने निम्न प्रकृति से घोर संग्राम करना पड़ेगा। ईसा मसीह ने सुन्दर बात कही है, "जिसने भी मेरे लिए अपने घर या अपने भाइयों या बहनों या पिता या माता या पत्नी या बच्चों अथवा जमीन को छोड़ा है, उसे सौगुना अधिक मिलेगा और वह शाश्वत जीवन प्राप्त करेगा।"

हम महान पुरुषों की सीखों को विचारहीन होकर एक ओर न हटा दें अथवा ऊपरी दिल से न ग्रहण करें बल्कि उन पर गम्भीर रूप से गौर करें और उनको आचरण में उतारने का प्रयास करें।

सत्य का सामना करो–

अरुचिकर तथ्यों को हम सुगन्धित फूलों से ढाँकने की कोशिश न करें। हम तथ्यों का सामना करना सीखें। घटनाएँ जिस रूप से घटती हैं हम उन्हें उसी रूप में देखें। यह शरीर एक गंदी चीज है। अतः उसके प्रति तथा उसके द्वारा होने वाले समस्त भोगों के प्रति हम अरुचि का अनुभव करें। ऐसा अनुभव करने में हमें कोई पीड़ा नहीं होनी चाहिये। अरुचिकर सत्य एक रुचिकर मिथ्या की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेय–स्कर है। यह शरीर नितांत गंदी चीजों से भरा है। यह नाशवान् है। अतः हम अपने शरीर तथा दूसरों के शरीरों के प्रति लगाव और आसक्ति का त्याग करें। यदि एक बार हमें शरीर के वास्तविक स्वरूप की धारणा हो जाय, तो फिर दूसरों के शरीरों के स्पर्श में आने की इच्छा स्वतः नष्ट हो जायगी। इसका अर्थ यह नहीं कि हम शरीर की उपेक्षा करें। नही, हमें सावधानीपूर्वक उसकी देखरेख करनी चाहिए और अपने तथा दूसरों के सच्चे कल्याण में उसका उपयोग करना चाहिए।

हम यदि सरल हों तो सब बातें सरल हो जाती हैं। हम यदि स्वयं जटिल और कुंठाग्रस्त हों तो सब कुछ हमें कठिन दिखाई देता है। जो उचित रूप से अपने मन को संस्कारित करता है ऐसे योग्य व्यक्ति के लिए आत्मानुभव एक सरल व्यापार है। एसा अधिकारी व्यक्ति सत्य को आमने–सामने देख सकता है और उसके असल रूप में उसका अनुभव कर सकता है। सत्य का दर्शन ऐसा असम्भव आदर्श नही है कि वह अनुभव में नहीं आवे अथवा हमारी पकड़ से वह दूर हो। हमें आध्यात्मिक आदर्श को यथार्थ और जीवन्त बना लेना चाहिए। तब वह कोरा आदर्श मात्र न रहेगा।

पहले ईश्वर को खोजो–

साधना की दशा में हम केवल ईश्वर और अपने बारे में सोचें और अन्य सब कुछ भूल जायँ। हम अपनी आसक्तियों को त्यागें। अपने निकटतम स्वजनों के प्रति जो लगाव हममें है उसे भी त्यागें। ईश्वर को छोड़कर और किसी बात की हम अधिक चिन्ता न करें। सदा–सर्वथा हम दिव्य भावों को मन में जगाकर रखें। यह पहली सीढ़ी है। धीरे धीरे हम उसी दिव्य तत्त्व को सबमें देखने में समर्थ होते हैं और उस दिव्य तत्त्व की सबमें अवस्थिति के कारण ही सबको प्यार करना सीखते हैं।

पहले हम व्यष्टि के पीछे समष्टि को, व्यक्ति के पीछे विराट् को देखना सीखें। इसके बाद की सीढ़ी है– विराट अथवा समष्टि के पीछे निरपेक्ष ब्रह्म की अनुभूति करना। अवतार अथवा इष्ट देवता के प्रति भक्ति के द्वारा हम धीरे-धीरे ज्ञान के उच्चतर सोपानों पर आरूढ़ होते हैं। अतीन्द्रिय ब्रह्मसत्ता के अनुभव का मार्ग हरदम सर्वानुस्यूत दिव्य तत्व के दर्शन में से होकर जाता है। भले ही बुद्धि के लिए, तर्क और युक्ति के लिए अतीन्द्रिय ब्रह्मसत्ता ही एकमात्र उपादेय तत्व ठहरती हो, तथापि बिना आवश्यक तैयारी के, बिना बीच की सीढ़ियों को तय किये कोई भी कूदकर उस ब्रह्मसत्ता तक नहीं पहुंच सकता। हम अपनी दृष्टि को जितनी व्यापक बनाते हैं, हम व्यक्ति के घेरे से उठकर समष्टि की ओर जितना अग्रसर होते हैं, उतना ही हम अनुभव करते हैं कि न तो नर है, न नारी; न विषय है, न विषयी; वह एक ही भिन्न-भिन्न नामों और रूपों में लीलायित हो रहा है।

हमें उस 'एक' को वीभत्स और भयंकर चीजों में भी देखने का अभ्यास करना चाहिए, पर साथ ही यह सावधानी रखते हुए कि वह वीभत्सता और भयं–करता पर हम हावी न हो जाय। वह ईश्वर स्थूल, अशुद्ध, बीभत्स अथवा कुत्सित वस्तुओं में भी विद्यमान हैं पर इसका अर्थ यह नही कि हमारा मन इन स्थूल,

अशुद्ध वीभत्स अथवा कुत्सित वस्तुओं से प्रभावित अथवा अभिभूत हो जाय। जो अंधकार प्रकाश को प्रतिबिम्बित करता है, वह उस प्रकाश से ही गायब भी हो जाता है।

जिस मात्रा में हम उस 'एक' को ही देखने में समर्थ होते हैं, उसी मात्रा में हमारे लिए सारी सीमितताओं और द्वन्द्वों का विस्मरण होता है। द्वन्द्व और सीमा ही इस भौतिक जगत् का निर्माण करते हैं। जब हमारे मन में यह धारणा दृढ़ होती है कि ईश्वर को छोड़कर शेष सब कुछ तुच्छ और नगण्य है, असार और छायामात्र है, तब हम द्वन्द्वों और सीमाओं के ऊपर उठने में समर्थ होते हैं।

सदैव सजग रहो—

यदि हम सजग रहें और निष्ठा के साथ अपनी साधनाओं में लगे रहें तो हम अपने मन की सारी गतिविधियों को पकड़ सकेंगे; जो भी विचार और भाव मन में उठते हैं उनकी जानकारी हमें हो सकेगी। साधारणतया, हम इस सम्बन्ध में इतने जड़ और उदासीन हैं कि अपनी दुर्गति का बोध हमें तब होता है जब मनरूपी घोड़ा हमें गड्ढे में खींच ले जाता है। यदि हम तनिक सावधान होते और उचित प्रयत्न करते तो घोड़े को गड्ढे की ओर जाने के पहले ही पकड़ ले सकते थे और इस प्रकार दुर्गति से हमारा बचाव हो सकता था।

इस मनरूपी घोड़े की रास तानकर पकड़ो। सारी दुर्घटनाएँ असावधानी के कारण होती हैं। सँभलकर रहो। जागते रहो। प्रमाद मत करो। एक क्षण के लिए भी मन को बिना निगरानी के न छोड़ो। ये बातें सभी पथ से जाने वाले साधकों के लिए समान रूप से उपयोगी हैं।

दैवी कृपा की याचना करो–

एक सुन्दर प्रार्थना है– "प्रभु, पतवार अपने हाथों में ले लो। मेरे छः माझी (षड्रिपु) अत्यन्त चंचल हैं। मेरी नाव दूसरे किनारे पर लगा दो। तुम मेरी नौका के खिवैया बन जाओ।" भगवान श्रीकृष्ण का संदेश उन लोगों के लिए नही है जो आलसी और प्रमादी हैं, जिनकी साधना पर पूरी निष्ठा नहीं है। वास्तविक अध्यात्म सक्रिय और गतिशील होता है; उसमें अकर्मण्यता नहीं होती। इसीलिए श्रीकृष्ण के संदेश में पौरुष है, ओज और शक्ति है। साधना में गतिशीलता के साथ नैतिक नियमों का कट्टर पालन भी होना चाहिए। इसी को यथार्थ धार्मिकता कहते हैं।

आध्यात्मिक जीवन में विवेक, वैराग्य और मुमुक्ष के समान सम्पत्ति दूसरी नहीं है। तभी तो श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "सत् और असत् का हरदम विवेक करो।

सदैव विचार करो कि एकमात्र ईश्वर ही सत् हैं और बाकी सब असत्, अनित्य है। व्याकुल होकर उनसे प्रार्थना करो।"

गीता में भगवान स्वयं युद्ध में भाग नहीं लेते, पर वे युद्ध करने वाले अर्जुन के सखा और मार्गदर्शक हैं। हम भगवान को हमारे अपने लिए युद्ध करने को न कहें पर उनसे युद्ध के लिए प्रेरणा और शक्ति की याचना करें। वे हमारे भी सखा और सारथी बनें, जैसे कि वे अर्जुन के थे।

सच्ची स्वतंत्रता–

असंग और पवित्र व्यक्ति ही सच्चे कर्मी होते हैं, क्योंकि वे व्यक्तिगत प्रेम और घृणा के शिकार नहीं होते। वे न तो अपने लिए और न दूसरों ही के लिए बन्धनकारक होते हैं। मोह और भ्रम से वे दूर रहते है। सच्ची स्वतन्त्रता किसमें है ? प्रेम और घृणा तथा आकर्षण तथा विकर्षण के द्वन्द्वों से मुक्ति ही सच्ची स्वतन्त्रता है। पूर्ण इन्द्रिय–संयम ही सच्ची स्वतन्त्रता है। जब हम शरीर और मन पर पूरी तरह नियन्त्रण प्राप्त कर लेते हैं तो भौतिक रूप से भी हमें यह महसूस होने लगता है कि जीवन वास्तव में जीने लायक है। क्योंकि तब हम अपनी वासना और कामना के गुलाम नहीं रह जाते। मन तब हमें कठपुतली के

समान नहीं नचा सकता। और वास्तव में तभी हम मनुष्य की सच्ची स्थिति को पाने में समर्थ होते हैं।

यदि साधक अध्यवसाय के साथ अपने भीतर दिव्यता के अस्तित्व का बोध करता रहे और अन्य दूसरी बातों को भूल जाने की कोशिश करे तो मनुष्यों और विषयों से उसे किसी प्रकार का धोखा न रह जायगा; प्रलोभन भी धीरे धीरे शांत हो जायेंगे और एक दिन पूरी तरह नष्ट हो जायेंगे।

संसार की अपेक्षा दिव्यता कहीं अधिक सत्य है—

हम अपने मन को टटोलें और पूछें— क्या हम सचमुच ईश्वर को चाहते हैं? यदि हम संसार के लोगों का प्यार चाहते हैं अथवा दुनिया की चीजें चाहते हैं, तो हमें ईश्वर की कोई जरूरत नहीं। यदि हम संसार की चीजों में सन्तोष और तृप्ति का अनुभव करते हैं तो समझ लेना चाहिए कि हमें ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसी दशा में, यदि ईश्वर हमें नहीं मिलते तो शिकायत की भी कोई बात नहीं है। अतः साधक को अपने आपसे बीच बीच में यह पूछना चाहिए कि क्या वह सचमुच ईश्वर को चाहता है अथवा दूसरी चीज की इच्छा रखता है? यदि वह वास्तव में ईश्वर को चाहता है तो उसे ईश्वर अवश्य मिलेंगे क्योंकि ईश्वर ऐसे ही भक्त के पास आते हैं जो केवल उन्हीं

की चाह रखता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "यदि साधक ईश्वर की ओर एक कदम बढ़ाता है तो ईश्वर उसकी ओर दस कदम आते हैं।"

सार बात यह है कि हम दो बातें एक साथ नहीं कर सकते। हम इस स्वप्नवत् जगत् को पूरी तरह सत्य भी मानें और साथ ही ईश्वर का चिन्तन भी करें ये दो बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। दिव्यानुभूति का पथ पुरुषार्थ से सम्पन्न होता है। अमरता को वही पा सकता है जो सांसारिक सम्बन्धों के लिए शरीर में रहता हुआ भी मृतवत् हो जाता है।

राम और काम एक साथ भक्त के हृदय में नहीं रह सकते। यदि इस काम को स्थान देते हैं तो राम के लिए जगह नहीं रह जाती। अतः पहले हृदय को रिक्त करो। हृदय यदि खाली हो जाय तो राम आकर सिंहासन पर विराजमान हो जाते हैं।

सन्त और ज्ञानी पुरुष संसार की अनेकता से विचलित नहीं होते। वे तो अनेक में एक को देखते हैं और उसी एक का चिन्तन और मनन करते हैं। वे उस एक में ही जीवन का सर्वोच्च आनन्द अनुभव करते हैं। यह आनन्द इन्द्रियों से नहीं मिल सकता। सांसारिक सम्बन्ध हमें यह आनन्द नहीं दे सकते। इन्द्रियगत वासनाओं का पूरी तरह शांत हो जाना ही दिव्यता की

अनुभूति है। श्रुति भगवती कहती है–

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

कठोपनिषद्, २।३।१४

–अर्थात्, जिस समय हृदय में आश्रित सारी कामनाएँ छूट जाती हैं, तब वह मर्त्य जीव अमर हो जाता है और इसी शरीर में ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है।

गीता (६।३०–३१) का भी वचन है–

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

–अर्थात्, जो मुझे सर्व भूतों में अवस्थित देखता है और सबको मुझमें, वह मुझसे पृथक् नहीं होता और न मैं ही उससे पृथक् होता हूँ। सभी भूतों में विद्य–मान मुझ परमात्मा को एकत्व में स्थित हुआ जो पुरुष भजता है, वह योगी सबप्रकार से बर्तता हुआ भी वास्तव में मुझी में बर्तता है (अर्थात् वह सदा मुक्त ही है)।

–'वेदान्त–केसरी' से साभार।

रानी रासमणि

डा. नरेन्द्रदेव वर्मा

युगावतार श्रीरामकृष्णदेव रानी रासमणि के सम्बन्ध में कहा करते थे कि "वह जगदम्बा की अष्ट-सहचरियों में से एक थी। वह धराधाम मे जगन्माता की पूजा का प्रचार करने के लिये अवतीर्ण हुई थी। उसके सारे कार्य जगदम्बा के प्रति उसकी अथाह श्रद्धा और भक्ति कै प्रतीक हैं।" असल में, रानी रासमणि ने दक्षिणेश्वर में मंदिर-समूह का निर्माण कर भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के युगकार्य के लिये एक व्यापक भूमिका का निर्माण किया था। दक्षिणेश्वर श्रीरामकृष्णदेव की जीवन-साधना से ससार के महान तीर्थ के रूप में परिवर्तित हो गया है। दक्षिणेश्वर के मंदिरों की प्रत्येक ईंट, उसका प्रत्येक कण युगावतार की आध्यात्मिक उपलब्धियों से चिन्मय हो उठा है। दक्षिणेश्वर का पुण्य-स्थल, उसके समीप से बहने वाली पुण्य-सलिला का कल-कल निनाद, वहां के तरु-पादप, लता-गुल्म-सभी श्रीरामकृष्णदेव की लोकोत्तर साधना की कहानियाँ कहते हैं। दक्षिणेश्वर का यह महान तीर्थं रानी रासमणि के जीवन का सुफल है, उसके यश का जीता-जागता स्मारक है।

रानी रासमणि ने दक्षिणेश्वर का निर्माण ईश्वरीय प्रेरणा से किया था। सन् १८४८ में भक्ति-मयी रानी ने भगवान् विश्वनाथ का दर्शन करने के लिये काशी की यात्रा करने का विचार किया। उन दिनों सड़कों का निर्माण नहीं हुआ था। इसलिये रानी रासमणि ने गंगा से नाव में बनारस जाने की व्यवस्था की थी। यात्रा के लिये पच्चीस बड़ी नावों का इन्त-जाम कर लिया गया था। रानी रासमणि काली की बड़ी भक्त थीं। सब इन्तजाम होने के बाद जैसे ही रवाना होने का विचार किया जा रहा था वैसे ही एक रात रानी रासमणि को एक अभूतपूर्व स्वप्न दिखा। रानी ने देखा कि जगन्माता काली उनके सामने प्रकट हुई हैं और उनसे कह रही है, "तुम्हें बनारस जाने की आवश्यकता नहीं है। तुम यही गगा के किसी सुरम्य तट पर मेरी मूर्ति की स्थापना करो और पूजा-भोग की व्यवस्था करो। मैं सदैव उस मूर्ति में विद्यमान रहकर तुम्हारी पूजा ग्रहण करूँगी।"

दूसरे दिन प्रातःकाल उठने पर रानी रासमणि काली की कृपा का स्मरण कर भक्ति-भाव से विह्वल हो उठीं। यात्रा के लिये जो वस्तुएँ एकत्रित की गई थीं उन्हें ब्राह्मणों और गरीबों को दान में दे दिया गया और इस हेतु एकत्रित रुपयों से मंदिर के लिये जमीन

खरीदने का विचार किया गया। रानी के दामाद मथुरानाथ विश्वास ने काफी खोज-बीन के बाद दक्षिणेश्वर में ५०,०००) में बीस एकड़ जमीन खरीद ली और इस प्रकार एक महान कार्य का समारम्भ होने लगा।

रानी रासमणि का जन्म हुगली के पूर्वी किनारे में स्थित कोनागाँव के एक दरिद्र माहिष्य परिवार में सन् १७९३ को हुआ था। उनके पिता का नाम हरेकृष्णदास था जिसे गांव के लोग 'हरू' कहा करते थे और उनकी माता रामप्रिया दासी थीं। हरू मकान बनाने और खेती-किसानी का काम करके अपनी जीविका का उपार्जन किया करते थे। उन्होंने अपनी कन्या का नाम रासमणि रखा था पर घर में सब उसे 'रानी' कहकर पुकारते थे। हरू कुछ शिक्षित थे। वे अपने घर में प्रतिदिन रामायण, महाभारत का पाठ किया करते थे और गांव के लोग धार्मिक चर्चा में भाग लेने के लिये आ जाया करते थे। रानी के मन में अपनें वैष्णव माता-पिता का काफी प्रभाव पड़ा था। किन्तु रानी की माँ अल्पजीवी थीं और जब रानी सात वर्ष की थीं तभी उनका देहावसान हो गया।

चन्द्रमा की कला के समान रानी दिनोंदिन

बढ़ने लगी। ग्यारह वर्ष की अवस्था में वह अत्यंत गौरवर्णा सुन्दरी कन्या के रूप में विकसित हो गई। उसके केश लम्बे और घने थे तथा घुटनों तक आते थे। इसी समय एक घटना घटी। कलकत्ता के जान-बाजार के एक धनी जमींदार प्रीतरामदास के पुत्र राजचन्द्रदास की दूसरी पत्नी की भी मृत्यु हो गई। राजचन्द्र दास के रिश्तेदार उसका तीसरा विवाह करने का प्रयास करने लगे। राजचन्द्र यदा–कदा नौका–विहार के लिये जाया करते थे। एक दिन वे अपने साथियों के साथ कोनागांव के समीप पहुँचे। उनके एक साथी ने राजचन्द्र को रासमणि को दिखा दिया। राजचन्द्र के मन में उसे देखते ही प्रेम उत्पन्न हो गया और वे उसके साथ विवाह करने के लिये तैयार हो गये।

सन् १८०४ के अप्रैल महीने में रानी रासमणि का विवाह राजचन्द्र से हो गया। इस प्रकार रासमणि अपने नाम को चरितार्थ करते हुए अपने श्वसुर–गृह में पहुँची। पर इस भाग्योदय से उसमें गर्व की भावना नहीं उपजी। यद्यपि रानी से ससुराल के सभी लोग स्नेह करते थे और उसे घर का कोई काम नहीं करने देना चाहते थे पर रानी स्वयं सारे काम किया करती। रानी मूलतः धार्मिक प्रवृति की थी और उसके आते ही परिवार की सम्पदा में वृद्धि होने लगी। इससे

रानी को बड़ा सम्मान मिला। सन् १८१७ में प्रीतराम की मृत्यु हो गयी और राजचन्द्र को उत्तराधिकार में छः लाख पचास हजार रुपये नकद और बहुत बड़ी जागीर मिली। कलकत्ते के सम्भ्रान्त नागरिकों में राजचन्द्र की बड़ी प्रतिष्ठा थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों के साथ भी उनकी बड़ी घनिष्ठता थी। राजचन्द्र के परोपकार के कार्यों को देखकर सरकार ने उन्हें 'रायबहादुर' की उपाधि प्रदान की थी।

राजचन्द्र जितने धनी थे उतनें ही उदार और दानी भी थे। रानी ने भी अपने पति को लोकोपकार के कार्य करने की काफी प्रेरणा दी थी। सन् १८२३ में बंगाल के बाढ़पीड़ित इलाकें में राजचन्द्र ने मुक्त हस्त से लोगों को अन्न प्रदान किया था और उनके आश्रय की व्यवस्था की थी। इसी समय रानी के पिता हरेकृष्णदास की मृत्यु हो गयी और रानी को अपनें पिता के श्राद्ध के लिये कोनागाँव जाना पड़ा। गाँव के समीप का घाट कच्चा और फिसलन से भरा हुआ था। घाट से गांव तक की सड़क भी कच्ची थी। वापस लौटकर रानी ने अपने पति से घाट और सड़क को पक्का बनाने का अनुरोध किया। राजचन्द्र ने तुरन्त अपनी सहमति व्यक्त की और सन् १८३० में बाबू घाट और बाबू रोड़ का निर्माण कार्य पूरा हो

गया। राजचन्द्र ने इसी प्रकार अहीरटोला में भी अपनी माता की स्मृति में घाट बनवाया और नीमटोला में पान्थशाला का निर्माण कराया ताकि जो लोग मृत्यु के समय गंगावास करना चाहे वे वहाँ रह सकें। राजचन्द्र ने गव्हर्नमेंट लाइब्रेरी के लिये दस हजार रुपया दान में दिया था और नहर बनाने के लिये अपनी जमीन का हिस्सा भी सरकार को सौंप दिया था। इसके अतिरिक्त चानक में तालपुकुर नामक तालाब की खुदवाई भी उनके द्वारा कराई गई थी।

श्रीभगवान की कृपा से रानी रासमणि को चार संतानें प्राप्त हुईं इन चारों को पद्ममणि, कुमारी, करुणा और जगदम्बा कहा गया। सन १८२१ तक रानी रासमणि फ्री स्कूल स्ट्रीट के निजी मकान में रहा करती थीं। राजचन्द्र ने १८१३ में ही एक विशाल भवन का निर्माण करना शुरू कर दिया था। यह मकान पच्चीस लाख रुपयों की लागत से बना। इसमें लगभग सात सौ कमरे थे। इस प्रकार रासमणि और राजचन्द्र अत्यन्त सुखी और सफल थे। पर राजचन्द्र अल्पजीवी थे तथा सन् १८३६ में ही उनका देहावसान हो गया। उस समय उनकी सम्पत्ति अस्सी लाख रुपयों की थी।

रानी रासमणि के लिये यह एक हृदयविदारक घटना थी। वे तीन दिनों तक निराहार रहीं। फिर

राजचन्द्र का भव्य श्राद्ध किया गया और ब्राह्मणों को प्रचुर दान भी दिया गया। कुछ दिनों के बाद रानी रासमणि ने जागतिक कार्यों की ओर ध्यान देना शुरू किया पर अब उनका जीवन एक सन्यासिनी का जीवन था। वे ब्राह्ममुहूर्त में उठ जाया करतीं और अपने कुलदेवता रघुवीर की ध्यान-पूजा में लीन हो जातीं। दिन भर कार्य करने के बाद सन्ध्या को पुन: वह पूजा-ध्यान में लग जातीं। उनका अधिकांश समय धार्मिक चर्चा में बीतता था।

राजचन्द्र के देहावसान के उपरान्त लोगों का विचार था कि सम्भवत: रानी अपने पति की विशाल सम्पदा की देखरेख नहीं कर सकेंगी इसीलिये प्रिन्स द्वारकानाथ ठाकुर ने स्वयं यह कार्य करने का प्रस्ताव रानी के पास भेजा। पर रानी ने उन्हें धन्यवाद देते हुए कहला भेजा कि वे इस छोटे से कार्य के लिए प्रिन्स को कष्ट नहीं देना चाहतीं और वे अपने दामादों के साथ यह कार्य कर लेंगी। अपने दामादों में से मथुरानाथ पर रानी अत्यधिक विश्वास करती थीं।

भक्तिमति रानी ने सारे कार्यों को कुशलता पूर्वक निपटाना शुरू कर दिया था। श्वसुर-गृह के सारे उत्सव पहले के समान धूमधाम से मनाये जाते थे। सन् १८३७ में रानी ने अपने कुलदेवता रघुवीर

की भव्य यात्रा निकालने का विचार किया और मथुरानाथ से चाँदी का एक रथ बनवाने के लिए कहा। मथुरानाथ हैमिल्टन कम्पनी के जरिए यह रथ बनवाना चाहते थे पर रानी के कहने पर उन्होंने कलकत्ते के सुनारों से यह कार्य कराया। नियत दिन में रघुवीर की भव्य रथयात्रा निकली। रानी के सब दामाद साधारण लोगों के समान नंगे पाँव रथ के आगे-आगे चल रहे थे। एक लाख बाइस हजार एक सौ पन्द्रह रुपयों में यह रथ तैयार हुआ था और इस अवसर पर ब्राह्मणों को मुक्त हस्त से दान दिया गया।

रानी रासमणि जितनी परोपकारी और धार्मिक थीं उतनी ही साहसिक और कुशल साम्राज्ञी भी थीं। एक बार दुर्गोत्सव के समय उनके पुजारी ब्राह्ममुहूर्त में बाजे बजाते और दुर्गा का भजन करते हुए गंगा के तट पर गये। उनके गाने-बजाने से एक अंग्रेज की नींद खराब हो गई और उसने अधिकारियों से इसकी शिकायत कर दी। जब यह बात मालूम हुई तो पुजारियों ने और जोरों से कीर्तन करते हुए फेरी की। इससे रानी पर मुकदमा चलाया गया और पचास रुपयों का जुर्माना किया गया। रानी ने जुर्माना तो दे दिया पर अपने बाबू रोड को बन्द भी कर दिया। सरकार के विरोध करने पर उन्होंने कहा कि यह उनकी वैयक्तिक

सम्पत्ति है और इस सम्बन्ध में सरकार को कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकार ने जुर्माना वापस करते हुए रानी से प्रार्थना की कि वे बाबू रोड खोल दें।

इसी प्रकार की एक और घटना होती है जिसमें रानी रासमणि की सूझ-बूझ और साहसिकता का अच्छा परिचय मिलता है। पहले मछुओं को गंगा में मछलियाँ पकड़ने में कोई पाबन्दी नहीं थी पर एकाएक सरकार ने बिना कर पटाये मछलियाँ पकड़ना निषिद्ध कर दिया। गरीब मछुआरों ने अधिकारियों से कर की माफी के लिये बहुत प्रार्थना की और अन्त में हताश होकर वे रानी रासमणि की शरण में गये। रानी उनकी बात सुनकर पसीज गईं और उन्होंने नदी का बहुत बड़ा भाग ठेके पर ले लिया। इसके बाद उन्होंने नदी पर घेराबन्दी करा दी जिससे कोई भी जहाज या स्टीमर उधर से न निकल सके। जब सरकार ने रानी का विरोध किया तो उन्होंने कहा कि उन्होंने मछलियाँ पकड़ने के लिए टैक्स पटा दिया है, पर जहाज और स्टीमरों की आवाज से मछलियाँ भाग जाती हैं। इसलिए उन्हें ऐसा करना पड़ा है। रानी का कार्य बिल्कुल वैधानिक था। निदान सरकार को अपना इरादा बदलना पड़ा और मछुओं पर से कर उठा लिया गया।

रानी रासमणि उचित कार्य के साधन के लिए ही सरकार का विरोध करती थीं, उससे व्यर्थ झगड़ा मोल नहीं लेती थीं। संकट के अवसर पर उन्होंने धन से सरकार की मदद भी की थी। रानी रासमणि का हृदय जनता के दुख-दर्दों को सुनकर व्याकुल हो जाता था और वह उनकी विपत्ति को मिटाने का अथक प्रयास करती थीं। एक बार रानी का एक हाकिम जब लगान वसूली में कड़ाई करने लगा तो रानी ने तुरन्त उसे ऐसा करने से मना कर दिया। इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर पड़ोस के जमींदार रानी की प्रजा को तंग करने लगा। रानी के आदमी एकत्रित होकर उस जमींदार पर पिल पड़े। जब रानी को बलवे की खबर मिली तब वे स्वयं वहाँ गईं और बीचबचाव किया। पर पड़ोसी जमींदार को अपनी करनी का फल मिल चुका था। उसने फिर कभी रानी की प्रजा पर अत्याचार नहीं किया।

अपने जागीर के किसानों की भलाई के लिए रानी ने मुक्त हस्त से अपने धन का व्यय किया था। उन्होंने मधुमती और नवगंगा नदी को जोड़ते हुए ताना नहर का निर्माण करवाया। इसमें एक लाख रुपये खर्च हुए। इसके अतिरिक्त उन्होंने सोनाई, बेलियाघाट और भवानीपुर में बाजार का निर्माण कराया और

कालीघाट में पक्की सीढ़ियों और घाट की व्यवस्था की। धार्मिक कार्यों में भी रानी अग्रणी थीं। पुरी यात्रा के अवसर पर उन्होंने भगवान जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा के लिए रत्नजड़ित सिंहासन बनवाये और मंदिर को दान में दे दिया। इस प्रकार उन्होंने विविध कार्यों में लगभग पाँच लाख रुपयों का दान किया था।

दक्षिणेश्वर में काली-मंदिर का निर्माण-कार्य चला हुआ था। काली का विग्रह बनकर तैयार हो चुका था पर विशाल मन्दिर के निर्माण में काफी समय लग रहा था। सन् १८५४ में रानी मंदिर को पूर्ण करने के लिये व्यग्र हो उठीं। उन्हें भय हुआ कि शायद वे अपने जीवन-काल में मंदिर में जगन्माता की प्रतिष्ठा नहीं करा पाएँगी। फिर इसी बीच माता ने उन्हें स्वप्न में दर्शन प्रदान किया और कहा, "अरी, तुम मुझे कब तक इस सदूक में बंद रखोगी ? यहां तो मेरा दम घुट रहा है। तुम शीघ्र ही मुझे प्रतिष्ठित कर दो।" फल-स्वरूप रासमणि ने निर्माण-कार्य अधिक तेज कर दिया। निदान ३१ मई सन् १८५५ में पुण्य मुहूर्त में काली मंदिर में माता भवतारिणी के विग्रह की प्राण प्रतिष्ठा कर दी गयी।

रानी रासमणि चाहती थीं कि वे प्रतिदिन जगन्माता को पक्वान्न भोग समर्पित करें और कोई

कुलीन ब्राह्मण इस कार्य को करे। पर उस समय का बंगाल जाति की कट्टरता से जकड़ा हुआ था। कोई भी ब्राह्मण माहिष्य रानी के मंदिर में पुरोहिताई करने के लिये तैयार नहीं हुआ। रानी निराश हो गईं। इसी समय उनकी भेंट श्रीरामकृष्णदेव के अग्रज रामकुमार से हुई। उन्होंने रानी को सलाह दी कि यदि मन्दिर की सम्पत्ति किसी कुलीन ब्राह्मण को दान में दे दी जाय और औपचारिक रूप से मंदिर को उनके नाम कर दिया जाय तो कोई भी उच्चवंशीय ब्राह्मण मंदिर में कार्य करने में संकोच नहीं करेगा। रानी को प्रतीत हुआ कि रामकुमार उनकी मुक्ति के दूत बनकर आये हैं। उन्होंने तुरन्त अपना दस लाख का मंदिर और उसके प्रबन्ध के लिये ढाई लाख की जागीर अपने कुलगुरु को दान में दे दी। उस समय रामकुमार कलकत्ते में संस्कृत पाठशाला चलाते थे। रानी के अनुरोध पर वे काली मंदिर मे पुजारी का कार्य करने लगे।

काली-मंदिर के निर्माण के साथ रानी रासमणि की एक महान कामना साकार हो गई। उनकी आत्मा अकल्पनीय आनन्द से भर उठी। उनका भक्ति-भाव और भी प्रबल हो गया। वे त्रिसंध्या स्नान करतीं और भूमिशयन करते हुए निर-

न्तर इष्ट-चिन्तन में लीन रहा करतीं। इसी समय श्रीरामकृष्ण अपने बड़े भाई के पास आये। तब उनकी उम्र लगभग बीस वर्ष की थी। आचार-विचार की दृष्टि से उस समय वे बहुत कट्टर थे। यह सोचकर कि दक्षिणेश्वर का मन्दिर शूद्र का है, उन्होंने बहुत समय तक मन्दिर का भोग भी ग्रहण नहीं किया। पर धीरे-धीरे उनकी कट्टरता कम होती गई और उन्होंने पुजारी का कार्य करना भी स्वीकार कर लिया। श्रीरामकृष्ण को देखते ही रानी रासमणि ने उनके प्रति एक सहज आत्मीयता का अनुभव किया। वे ही प्रथम व्यक्ति थीं जिन्होंने श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व में छिपी हुई घनीभूत आध्यात्मिकता को जाना था। अनेकानेक घटनाओं के माध्यम से रानी रासमणि को क्रमशः यह दृढ़ विश्वास होता जा रहा था कि श्रीरामकृष्ण अद्वितीय पुजारी है और वे जगन्माता को जागृत करने के लिये यहाँ आये है।

दक्षिणेश्वर में काली-मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा के तीन महीने बाद ही एक दुःखद घटना घटी। गोपाल मन्दिर में ब्राह्मण क्षेत्रनाथ पुजारी पद पर कार्य कर रहा था। इतने में उसके हाथों से प्रतिमा गिर गई और श्री गोपाल की मूर्ति का बायाँ पैर टूट गया। सारे दक्षिणेश्वर में यह खबर फैल गयी।

रानी रासमणि और मथुरानाथ के भय से पुजारी क्षेत्रनाथ थर-थर काँपने लगा। रानी ने विद्वानों से इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया। अधिकांश पण्डितों का सुझाव था कि भग्न-मूर्ति की पूजा शास्त्र-विरुद्ध है। इसलिये उसे गंगाजी में विसर्जित करके नयी मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा करनी चाहियें। पर मथुरा बाबू ने रानी रासमणि से कहा कि इस सम्वन्ध में बाबा (श्रीरामकृष्ण) से भी पूछ लिया जाये। रानी के पूछने पर श्रीरामकृष्ण ने कहा, "अगर रानी के किसी दामाद का पैर टूट जायें तो क्या उसे बदलकर दूसरे व्यक्ति को रख लिया जायगा या उसीका इलाज कराया जायगा ? ऐसा ही व्यवहार मूर्ति के साथ भी करना चाहिये।" रानी श्रीरामकृष्ण की बातों से सहमत हो गईं। श्रीरामकृष्ण देव-मूर्ति बनाने में कुशल थे। उन्होंने इतनी बारीकी से मूर्ति के पैर को जोड़ दिया कि यह पता लगाना कठिन हो गया कि मूर्ति पहले कहाँ से टूटी थी। इस घटना के बाद से श्रीरामकृष्ण गोपाल-मन्दिर में पुजारी का कार्य करने लगे।

दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्णदेव का जीवन आध्यात्मिकता के विकास की एक बड़ी सुन्दर गाथा है। प्रारम्भ में वे भगवदीय विरह के मूर्तिमान प्रतीक

हो गये थे। जगन्माता को देखने की तीव्र कामना उनके तन-मन को मथ रही थी। ईश्वर से बिलगाव की भावना उनके प्राणों में असह्य वेदना का संचार कर रही थी। वे माता से अहर्निश बड़े आर्त स्वर में दर्शन प्रदान करने की प्रार्थना करते और जब वियोग असह्य हो जाता तो फर्श पर पछाड़ खा-खाकर गिर पड़ते। उनकी इस उच्च आध्यात्मिक अवस्था को सुनकर तरह-तरह की बातें करते; कहते कि 'छोटे पुजारी' का दिमाग फिर गया है। किन्तु जब रानी रासमणि ने उन्हें इस स्थिति में देखा तो वे उनकी गहरी आध्यात्मिकता को समझ गईं और जान गईं कि भगवत्कृपा के बिना कोई ऐसी स्थिति में नहीं पहुँच सकता। वे प्रायः मन्दिर में उपस्थित होकर श्रीरामकृष्ण जैसे विलक्षण पुजारी की विलक्षण पूजा का अवलोकन करतीं। श्रीरामकृष्ण का कण्ठस्वर बड़ा मधुर था इसलिए बीच-बीच में रानी उनसे भजन सुनाने का अनुरोध करती थीं। एक दिन रानी का चित्त अस्थिर था। उन्हें अपने एक मुकदमे की बड़ी चिन्ता थी। वे मन्दिर में आकर श्रीरामकृष्णदेव का भजन सुनने लगीं। एकाएक श्रीरामकृष्ण रोष में आकर उठे और रानी रासमणि को थप्पड़ लगाते हुए बोले– "यहाँ भी संसार की चिन्ता!" अन्य लोग

'छोटे पुजारी' की इस हरकत से अवाक् हो गये और उसपर हमला करने की तैयारी करने लगे। रानी ने अपने मन की दुर्बलता को समझ लिया था और वे श्रीरामकृष्ण के आचरण के औचित्य को जान गई थीं। उन्होंने सबको ताड़ना देते हुए अधिकार के स्वर में कहा, "तुम लोग इन्हें छू भी नहीं सकते। भट्टाचार्य ने कोई अनुचित कार्य नहीं किया है।"

मंदिर-निर्माण के बाद रानी रासमणि अधिक समय तक जीवित नहीं रहीं। सन् १८६१ में वे रुग्ण हो गईं। तब तक मंदिर की सम्पत्ति का दस्तावेज तैयार नहीं हुआ था। उस समय रानी की चार कन्याओं में पद्ममणि और जगदम्बा ही जीवित थीं। रानी ने सोचा, उनके बाद मंदिर की सम्पत्ति के मामले में बहनों में गलतफहमी न हो इसलिये उन्होंने उन दोनों से दस्तावेज पर दस्तखत करने के लिये कहा। जगदम्बा ने तो सहर्ष अपने दस्तखत कर दिये पर पद्ममणि इसके लिए राजी नहीं हुई। इस बात से रानी को बड़ा सदमा पहुँचा। १८ फरवरी १८६१ को उन्होंने दु:खित हृदय से दस्तावेज पर हस्ताक्षर किये और दूसरे ही दिन उन्होंने अपने प्राणों को त्याग दिया।

मृत्यु के कुछ क्षण पहले रानी रासमणि ने देखा कि अनेकानेक दीप जल उठे हैं और उनसे प्रकाश

की तीव्र किरणें निकल रही है। वे बुदबुदा उठीं, "इन्हें यहाँ से हटा दो। मुझे ये सुहा नहीं रहे हैं। मेरी माँ (जगदम्बा) आ गई है। उसके शरीर से प्रकाश फूट रहा है और चारों ओर उजाला हो गया है।" कुछ क्षण रुककर भावावेश से भरे स्वर में रानी रासमणि ने कहा, "माँ, तुम आई हो माँ? लेकिन पद्मा ने तो दस्तखत नहीं किया। अब क्या होगा, माँ?" इसके बाद ही रानी का मुखमण्डल उद्वेगरहित होकर अमर प्रशान्ति से परिपूर्ण हो गया। जगन्माता की इस सहचरी का कार्य धराधाम पर पूरा हो गया था और जगदम्बा ने उसे पुन: अपने समीप बुला लिया। इस प्रकार युगावतार के महान कार्य की भूमिका तैयार कर रानी रासमणि ने २० फरवरी की रात के तीसरे पहर सदा के लिए अपनी आंखें मूंद लीं।

●

गृहस्थ और साधु का जीवन समान रूप से सम्माननीय है। साधु अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन सदैव किया करते हैं जबकि गृहस्थ यथाशक्ति इनकी प्राप्ति का प्रयास करते हैं।

— भगवान् महावीर

भगिनी निवेदिता

(उनके जन्म–शताब्दी के अवसर पर)

प्रव्राजिका आत्मप्राणा

मार्गरेट नोबल जो भारत में भगिनी निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुईं, टाइरोन के डुंगेनान नामक स्थान में २८ अक्टूबर, १८६७ को एक आयरिश परिवार में पैदा हुई थीं। उनके पिता सैमुएल रिचमंड नोबल उत्तरी आयलैंण्ड में वेस्लीयन चर्च में पादरी थे। वे मात्र ३४ वर्ष की अल्पावस्था में अपनी पत्नी और तीन बच्चों को छोड़कर काल–कवलित हो गये। बच्चों में मार्गरेट सबसे बड़ी थीं।

हैलीफेक्स कालेज में शिक्षा ग्रहण करने के बाद मार्गरेट कई कन्या–शालाओं में शिक्षिका का कार्य करती रहीं। इस प्रकार शिक्षकीय कार्य का विशेष अनुभव प्राप्त कर उन्होंने पच्चीस वर्ष की उम्र में सन् १८९२ में विम्बलडन नामक शहर में स्वयं अपना एक स्कूल खोल लिया और शिक्षा कार्य में गंभीरता के साथ जुट गयीं। वे शिक्षा शास्त्री पेस्तलोजी और फ्रीबेल की अनुगामिनी और प्रशंसक थीं तथा उस समय लंदन में जो 'नव–शिक्षा' का आन्दोलन चला था उसकी वे उत्साही समर्थक थीं।

साहित्य के प्रति उनका अनुराग तबसे विशेष प्रस्फुटित हुआ जब अपनी मित्रों के साथ मिलकर उन्होंने 'विम्बलडन साहित्यिक समिति' की स्थापना की। वे सीसम क्लब की गतिविधियों में भी सक्रिय भाग लेती थीं। लंदन का अग्रणी बौद्धिक वर्ग इसी क्लब में आकर मिला करता था।

मार्गरेट की बौद्धिक अभिरुचियाँ बहुमुखी थी। पर एक बात से वे बड़ी क्षुब्ध थीं। धर्म के सम्बन्ध में धीरे–धीरे जो अनिश्चितता और हताशा का वातावरण बनता जा रहा था, उससे वे व्यथित थीं। शैशवकाल में उनमें ईसाई धर्म के सिद्धान्त भरे गये थे और स्वभाव से वे अत्यन्त धार्मिक थीं। पर जब वे बड़ी हुई और उनकी उम्र १८ वर्ष की हुई, तो उनकी सतत विकास-शील बुद्धि में ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की सत्यता के प्रति सन्देह और शंका का भाव जन्म लेने लगा। वे खोजी प्रवृत्ति की थीं, इसलिए धर्म का जो रूप उस समय प्रचलित था वह उन्हें अधिक काल तक अपनी ओर खींचकर न रख सका। वे कुछ समय तक नैच्युरल साइंस के अध्ययन में लगी रहीं। तत्पश्चात बौद्ध धर्म ने कुछ अवधि के लिए उन्हें अपनी ओर खींचा, पर इससे उनके विक्षुब्ध और अशांत मन को शांति न मिल सकी।

इसी समय स्वामी विवेकानन्द वेदान्त का सन्देश लेकर लन्दन आये। मार्गरेट के शब्दों में, स्वामी जी के उपदेश 'प्यास से तड़पकर मरते हुए लोगों के लिए अमृतस्वरूप' थे।

'दि मास्टर एज आय सॉ हिम' नामक अपने संस्मरणात्मक ग्रन्थ में वे लिखती है कि वह १८९५ ई. के नवम्बर मास का एक शीत-आक्रान्त रविवार था जब अपराह्न में वे पहली बार एक छोटे से बैठक खाने में स्वामी विवेकानन्द से मिलीं। १८९३ ई. में शिकागो की विश्व प्रदर्शिनी में जो सर्वधर्मपरिषद बैठी थी, उसमें भाग लेने के उपरान्त विश्वविख्यात बनकर स्वामीजी लन्दन में पधारे थे। वेदान्त पर उनकी आधुनिक, सरल और तलस्पर्शी व्याख्याओं ने अमेरिका के लोगों पर गहरा प्रभाव डाला था और लोगों में हिन्दू विचारधारा और विशेषकर वेदान्त-दर्शन, के प्रति व्यापक अभिरुचि पैदा की थी।

अमेरिका में दो वर्ष रहकर स्वामी विवेकानन्द इंग्लैंड आये और थोड़े ही दिनों में लन्दन में व्याख्यान देना शुरू कर दिया। मार्गरेट नियमित श्रोताओं में से एक थीं पर सुनी हुई बातों को एकाएक ग्रहण कर लेना उनका स्वभाव न था। जब तक वे स्वयं किसी बात को समझ न लेतीं तब तक उनकी बुद्धि उसे

स्वीकार न करती थी। इसीलिए पहले-पहल स्वामीजी की बातों पर 'किन्तु' और 'क्यों' लगा-लगाकर बहुत बहस करतीं। तथापि स्वामीजी की तीन बातों ने उन्हें बड़ा प्रभावित किया था और इस प्रभाव को वे स्वयं स्वीकार करती थीं। जब उसी वर्ष की शीत ऋतु में स्वामीजी अमेरिका चले गये तो भी मार्गरेट के मन से उक्त तीनों बातों का असर न गया। पहली बात थी- स्वामीजी के धार्मिक भावों की व्यापकता; दूसरी थी एक विशाल बौद्धिक नवीनता और सोचने की नई दिशा जो स्वामीजी के विचारों ने पैदा की; और तीसरी यह थी कि स्वामीजी का संदेश किसी भी प्रकार मनुष्य की निम्नतर प्रवृत्तियों पर आधारित न होकर उसकी उच्चतम अभिरुचियों और उसके उदात्त स्वरूप पर प्रतिष्ठित था। शीघ्र ही वह समय आया जब स्वामीजी के अमेरिका जाने से पहले मार्गरेट ने उन्हें 'गुरुदेव' कहकर सम्बोधित किया।

१८९६ के वसन्त में स्वामीजी अमेरिका से लौट आये और तुरन्त काम में लग गये। उनके उपदेशों से मार्गरेट की सुप्त धार्मिक भावनाएँ जाग गयीं और मानवता की निःस्वार्थ सेवा की कामना प्रबल होने लगी। स्वामीजी ने उन्हें लिखा- "संसार को चरित्र चाहिए। संसार को ऐसे लोगों की आवश्यकता है

जिनका जीवन निःस्वार्थ प्रेम का जाज्वल्यमान विग्रह है। वह प्रेम उनके प्रत्येक शब्द को वज्र की शक्ति प्रदान करेगा।" ये शब्द आग के शोले बनकर मार्गरेट के जीवन में आये और उसे दूसरी दिशा में ढाल दिया।

अन्त में मार्गरेट ने स्वामीजी के मिशन के लिए आत्मोत्सर्ग कर देना चाहा। पर स्वामीजी ने उन्हें ऐसा करने से रोका और उनके निश्चय के विरुद्ध जो भी बातें हो सकती थीं, वह सब स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया। पर मार्गरेट अपने धुन की पक्की थीं। शायद यही कारण था कि जब भारत और भारतीयों की सेवा के लिए अपने वतन को छोड़ने का समय आया, तो वे तनिक भी न हिचकीं। १८९७ के अन्त अन्त में उन्होंने इँग्लैण्ड छोड़ा और २८ जनवरी, १८९८ को वे कलकत्ता पहुँची। बेलुड़ में जहाँ बाद में रामकृष्ण मिशन का प्रधान कार्यालय स्थापित हुआ, एक कुटीर में स्वामीजी की दो अन्य अमेरिकन शिष्याओं के साथ मार्गरेट का निवास तय किया गया। उसी वर्ष की मार्च २५ को स्वामीजी ने उन्हें ब्रह्मचर्यव्रत में दीक्षित किया और 'निवेदिता' का नया नाम दिया।

स्वामीजी एवं अन्य लोगों के साथ मई से अक्टूबर तक अलमोड़ा और काश्मीर की यात्रा करके निवेदिता नवम्बर में कलकत्ते लौटीं। पहले वे बाग–

बाजार में श्रीमाँ सारदा के साथ ठहरीं। श्रीमाँ से निवेदिता इतनी प्रभावित हुईं कि उन्होंने लिखा, "मुझे सदैव ऐसा लगा है कि श्रीमाँ भारतीय नारी के आदर्श पर श्रीरामकृष्ण का अन्तिम शब्द हैं। पर क्या वे बीती हुई पीढ़ी की अन्तिम कड़ी हैं अथवा नई पीढ़ी की पहली ? उनमें हम उस बुद्धि और मधुरता का परिपाक देखते हैं जो सरल से सरल नारी की सम्पत्ति हो सकती है। तथापि मेरे लिए उनकी सौजन्य की भव्यता और उनका विशाल मुक्त मन उतनी ही अचरज की वस्तु है जितनी कि उनकी साधुता।" १३ नवम्बर को श्रीमाँ ने बागबाजार स्थित भगिनी निवेदिता स्कूल का उद्‌घाटन किया। उस अवसर पर उन्होंने प्रार्थना की कि स्कूल पर जगदम्बा की कृपा हो और वहाँ से शिक्षा पाकर निकलने वाली लड़कियाँ आदर्श की अनुगामिनी बनें। निवेदिता ने बाद में लिखा, "श्रीमाँ ने भावी शिक्षित हिन्दू नारीत्व के सम्बन्ध में जो आशीर्वाद दिया है उससे अधिक शुभ की कल्पना मैं नहीं कर सकती।"

किन्तु यह स्कूल केवल प्रयोग के बतौर खोला गया था। उसमें कई कठिनाइयाँ आयीं और कुछ महीने बाद निवेदिता ने उसे बन्द कर, नये तौर-तरीकों की खोज में विदेश जाना चाहा। जून १८९९ में वे स्वामी

विवेकानन्द के साथ यूरोप और अमेरिका के लिए रवाना हुईं। वे जहाँ भी गयीं, भारत के पक्ष में अपनी वक्तृत्वशक्ति का उपयोग किया और भारत में अपने शैक्षणिक प्रयोग का हवाला देकर आर्थिक सहयोग प्राप्त करना चाहा।

स्वामीजी १९०० ई. के अन्त में भारत आये और निवेदिता १९०२ ई. के आरम्भ में लौटीं। वे तब स्वामीजी के साथ अधिक दिन न रह सकीं क्योंकि ४ जुलाई, १९०२ को स्वामीजी ने महासमाधि ले ली। यह एक बड़ा आघात था। पर इससे निवेदिता हतोत्साहित न हुईं। स्वामीजी के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए वे और भी दृढ़ रूप से सन्नद्ध हो गयीं। इसी समय उन्होंने अपनी एक मित्र को लिखा था, "स्वामीजी मरे नहीं हैं; वे सदैव हमारे बीच हैं। मैं तो बिसूर तक नहीं सकती। मैं केवल कार्य करना चाहती हूँ।"

स्वामीजी की एक अन्य अमेरिकन शिष्या ख्रिस्तीन ग्रीनस्टिडेल कुछ महीने बाद निवेदिता के पास आ गयीं और उनकी सहायता से निवेदिता ने स्कूल के कार्य का विस्तार किया। छोटे से किंडरगार्टन स्कूल से बढ़कर वह एक नियमित शिक्षा-प्रतिष्ठान बन गया जहाँ बाद में वयस्क महिलाओं के लिए भी एक वर्ग खोल दिया गया। स्कूल-कार्य का भार सामान्यतः

ख्रिस्तीन को सौंपा गया और निवेदिता ने अपने लिए 'राष्ट्र-निर्माण' का अधिक व्यापक कार्यक्षेत्र चुना।

अपने यूरोप और अमेरिका के भ्रमणकाल में निवेदिता ने यह अनुभव किया था कि जो देश गुलामी की जंजीरों से बँधा है वह सामाजिक, राजनैतिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टि से ऊपर नहीं उठ सकता। राजनैतिक स्वतंत्रता पहले हासिल करनी चाहिए। अतएव भारत के भिन्न-भिन्न भागों में जाकर उन्होंने व्याख्यानों और वक्तृताओं द्वारा यहाँ के लोगों को जगाने का प्रयास किया जिससे भारतवासी अपने प्रस्तुत कर्तव्य को समझ सकें और भारत के पुनरुत्थान में योगदान दे सकें। उन्होंने तीन बातों पर विशेष बल दिया- पहली, अपनी निहित संचित शक्ति पर अनन्त विश्वास; दूसरी विदेशी सरकार से मुक्त होने के लिए सब ओर से शक्ति इकट्ठी करना; और तीसरी, यह अनुभव करना कि श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द का आविर्भाव अँधेरे में चलने वालों को प्रकाश देने के लिए हुआ था। अपने दूसरे दौरे की समाप्ति पर उन्होंने लिखा था, "अब मैं श्रीरामकृष्णदेव के जीवन पर पहले की अपेक्षा अनन्त गुना अधिक चिन्तन करती हूँ। मैं अपने देश (भारत) के लोगों को सभी कोनों में समूहों में खड़ा देखना चाहती हूँ- कार्यकर्ताओं के रूप से नहीं बल्कि

इसलिए कि वे प्रार्थना करें और श्रीरामकृष्ण एवं स्वामीजी की जीवनियों को देखें। यह जीवन-द्वय ही भारत की एकता है। आवश्यकता केवल इतनी है कि भारत उन दोनों को अपने हृदय में रखे।"

सितम्बर से नवम्बर तक वे पश्चिम भारत में बम्बई, नागपुर, वर्धा, अमरावती, बड़ौदा और अहमदाबाद में व्याख्यान-दौरे पर रहीं। उसका दूसरा दौरा दिसम्बर मे हुआ और जनवरी १९०३ के तीसरे सप्ताह में वे कलकत्ता लौट आयीं। १९०४ के आरम्भ में वे बिहार और संयुक्त प्रदेश (उत्तर प्रदेश) के दौरे पर निकल गयीं। इस दौरे में शिक्षा सम्बन्धी उनके जो व्याख्यान हुए वे बड़े ही उपयोगी सिद्ध हुए क्योंकि इसी समय देश के कुछ नेताओं ने लार्ड कर्जन द्वारा बिठाये गये यूनिवर्सिटीज कमीशन को खुली चुनौती दी थी। 'बिहार हेराल्ड' नामक पत्र ने लिखा था- "भारत, और विशेषकर बिहार को, आज इनके (निवेदिता के) समान उपदेशकों की जरूरत है जिनका ध्येय ही ऐसे व्यावहारिक और ठोस उपाय बताना है जिससे भारतीय एक राष्ट्र के रूप में आगे बढ़ सकें।"

पटना के बाद वे राजगीर, नालन्दा, वाराणसी और लखनऊ गयीं और सर्वत्र छोटी-बड़ी सभाओं में लोगों को सम्बोधित करती रहीं। जब वे कलकत्ते में

रहतीं तो स्कूल, लेखन और भाषण के कार्यों में व्यस्त रहतीं।

१९०४ ई. के अन्त अन्त में देश का, विशेषकर कलकत्ते का, राजनैतिक वातावरण काफी उग्र हो गया। १९०० से १९०५ तक कांग्रेस के नेताओं के माध्यम से शिक्षित भारत की आवाज बुलन्द होने लगी थी। उन लोगों ने प्रतिवादों और विरोध–पत्रों के माध्यम से ब्रिटिश शासन के साथ एक समझौते पर पहुँचने की कोशिश की। किन्तु जब १९०५ में लार्ड–कर्जन ने बंगाल के विभाजन की आकस्मिक घोषणा की तो वह देश के लोगों पर जबर्दस्त आघात था। नेताओं ने इसे अपना अपमान और दमन समझा। बीसवीं शताब्दी के उस प्रथम दशक में यद्यपि भगिनी निवेदिता राजनैतिक गतिविधियों में सक्रिय भाग नहीं लेती थीं, यद्यपि उन्हें यह देखकर प्रसन्नता हुई कि नये भारत का नव विहान हो रहा है और उसमें नव प्राण–संचार हो रहा है। वे अत्यन्त कट्टर 'राष्ट्रवादी' थीं। उनके बहुमूल्य भाषणों और लेखों से हजारों नवयुवक उच्चतर और आदर्शवादी जीवन की ओर प्रेरित हुए थे। देश के नेताओं को उनकी सामयिक चेतावनी से प्रबोधन मिलता और इस प्रकार उसके परिचय का दायरा सतत बढ़ता जा रहा था। इनमें समाजसुधारक

राजनीतिज्ञ, कवि, कलाकार, वैज्ञानिक और इतिहास-कार सभी प्रकार के व्यक्ति थे। कुछ तो ये थे- रमेश-चन्द्र दत्त, जी. के. गोखले, विपिन चन्द्र पाल, अरविन्द घोष, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, रामानन्द चटर्जी और जदुनाथ सरकार।

भगिनी निवेदिता का स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण उनके काम में बाधा पड़ती। १९०५ ई. में वे सख्त बीमार हो गयीं। १९०६ में वे पूर्वी बंगाल के अकालग्रस्त और बाढ़पीड़ित इलाकों में गयीं और वहाँ से आकर लम्बे समय तक के लिए मलेरिया की शिकार बनी रहीं। इन दो बीमारियों तथा काम के भारी बोझ के कारण उनका स्वास्थ्य भग्न हो गया जो अन्त तक न सुधरा। १९०७ ई. के बीच में तथा पुनः १९१०-११ के बीच छः महीने के लिए वे पश्चिम गयीं। १९११ ई. के वसन्त में वे भारत लौटीं और पूजा (दशहरा) की छुट्टियों में वायु-परिवर्तन के लिए दार्जि-लिंग गयीं। वहीं उनका देहावसान हो गया। तब उनके जीवन के चवालीस वर्ष भी पूरे नहीं हुए थे।

सारा देश उनकी अकाल मृत्यु से शोकग्रस्त हो गया। कलकत्ते में तत्काल बाद एक शोकसभा आयो-जित की गयी जिसमें डा. रासबिहारी घोष, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, पण्डित मदन मोहन मालवीय और जी. के.

गोखले जैसे प्रतिष्ठित नेताओं ने भारत के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देने वाली निवेदिता को भावोच्छ्वास-पूर्ण हार्दिक श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं।

आज जब हम भगिनी निवेदिता की जन्म-शताब्दी मना रहे हैं, हम उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करें और गोखले ने लगभग पचास वर्ष वर्ष पूर्व उनके सम्बन्ध में जो कहा था उसे स्मरण रखें– ' 'भगिनी निवेदिता को, दस वर्ष से अधिक हुए, घनिष्ठ रूप से जानने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनका व्यक्तित्व असाधारण रूप से प्रभावी था– इतना प्रभावी कि उनके सम्पर्क में आना मानो प्रकृति की किसी महती शक्ति के सम्पर्क में आना था। उनकी विलक्षण बुद्धि भावों को छन्दोबद्ध रूप से अभिव्यक्त करने की उनकी अनुपम शक्ति, उनका अथक उद्योग, अपने विश्वासों और धारणाओं के प्रति उनकी अडिग दृढ़ता, और सर्वोपरि, मूल बात को पकड़ लेने की उनकी अद्भुत क्षमता– ये ऐसे गुण हैं जिन्होंने किसी भी देश और किसी भी काल में उन्हें लोकोत्तर नारी बना दिया होता। और जब इन गुणों के साथ हम निवेदिता में देखते हैं भारत के प्रति सारी सीमाओं को ढहा देनेवाला सर्वग्राही प्रेम, उसके कल्याण के लिए अपूर्व निष्ठा और उसकी सेवा के लिए अशेष आत्मत्याग और

समर्पण, तथा इसके हेतु जीवन की निर्मम कठोरताओं का स्वेच्छयावरण, तो इसमें क्या आश्चर्य है यदि भगिनी निवेदिता ने हमारी भावनाएँ छू ली हों और हमारा हृदय जीत लिया हो; अथवा अपने आसपास के लोगों की विचारधारा और मनोभावों पर गहरा और सुदूर-व्यापी प्रभाव डाला हो; क्या आश्चर्य है यदि हम उन्हें किसी भी देश में कार्यरत महानतम पुरुषों और नारियों में विशेष स्थान प्रदान करते हों ?"

—'भवन्स जर्नल' से साभार।

हमारा ध्येय सत्य होना चाहिये, न कि सुख।

— सुकरात।

अपने जीवन का एक लक्ष्य बनाओ, और इसके बाद अपना सारा शारीरिक और मानसिक बल जो ईश्वर नें तुम्हें दिया हैं, उसमें लगा दो।

— कार्लाइल।

पाप में पड़ना मानव स्वभाव है, उसमें डूबे रहना शैतान स्वभाव है, उस पर दुःखित होना संत-स्वभाव हैं और सब पापों से मुक्त होना ईश्वर-स्वभाव है।

— लांगफैलो।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्‌चन्द्र पेन्ढारकर

१. उच्चकुल के अभिमान से मुक्ति

वृद्धावस्था में आचार्य रामानुज एक ब्राह्मण शिष्य का सहारा लेकर गंगा–स्नान के लिए जाते थे। लौटते वक्त वे एक शूद्र विद्यार्थी के कंधे पर हाथ रख लेते थे। उनके इस व्यवहार पर कुछ रूढिवादी तिलमिलाते थे। उनमें से एक ने एक दिन उनसे कुछ रुष्ट हो कह ही डाला, "आचार्य, गंगा–स्नान से शुद्ध होकर आपको शूद्र के शरीर का सहारा लेना उचित नहीं है।"

आचार्य ने हँसते हँसते उत्तर दिया, "जिसे आप शूद्र मानते हैं, स्नान के पश्चात् उसके कंधे पर मैं इसलिए हाथ रखता हूँ कि अपने उच्च कुल व उच्च जाति का अभिमान धो सकूं क्योंकि इस अभिमान के मेल को पानी से धोनें में असमर्थ हूँ।

२. नकलचियों की दशा

स्वामी दयानन्द के पाखंड-खंडन से चिढ़कर पूना के पोंगापंथी पाखंडियों ने उन्हें अपमानित करने तथा चिढ़ाने के लिए एक जुलूस निकाला। उन्होंने एक नकली दयानन्द बनाकर चूना व कालिख से उसका मुंह

रँगकर गधे पर बिठाकर जुलूस के आगे कर रखा था और लोग पीछे-पीछे उसपर दयानन्द के नाम से तरह-तरह की व्यंग-बोछार करते तथा तालियाँ बजाते चल रहे थे।

दयानन्द के शिष्यों से न रहा गया। वे स्वामीजी के पास गये और कहने लगे कि यदि अनुमति मिले, तो इन पाखण्डियों को उचित सजा वे दे सकते हैं।

इस पर स्वामीजी बड़े ही सहज भाव से समझाते हुए बोले, "इसमें सजा देने की क्या बात ? दूसरे की नकल करने वालों की जो दशा होती है, वह बेचारे नकली दयानन्द की हो रही हैं। यह क्रोध करने का नहीं, शिक्षा लेने का विषय है।"

३. क्या जाने किस भेष में

संत एकनाथ कमंडलु में गंगाजल भरकर काशी से रामेश्वरम् की यात्रा कर रहे थे। गर्मी के दिन थे। मीलों तक पानी नहीं मिलता था। संत एकनाथ ने देखा कि एक गधा प्यास से तडपकर मृतप्राय हो गया है। उन्होंने पानी का कमंडलु उसके मुँह में उड़ेल दिया। गधा जी उठा। शिष्यों ने देखा तो बोले, "यह आपने क्या कर दिया; अब भगवान शिव का अभिषेक कैसे होगा ?"

एकनाथजी ने परम तृप्ति के आवेश में कहा, "अरे रे ! क्या तुमने नहीं देखा, स्वयं देवाधिदेव रामेश्वर (शिव) ही तो गधे के रूप में यहाँ आये थे ! कितने कृपालु हैं वे ! स्वयं ही आ गये और हमें वहाँ तक जाने का कष्ट नहीं दिया उन्होंने !"

४. परिव्राजक के गुण

बुद्धदेव का एक शिष्य उनके पास हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। उन्होंने उससे प्रश्न किया, "क्या चाहते हो ?"

शिष्य बोला, "यदि भगवान आज्ञा दें, तो देश-विचरण करना चाहता हूँ।" तथागत ने भिक्षु से पुन: पूछा, "पूर्ण ! तू कौन से प्रान्त में विचरण करेगा ?"

"भंते, सूनापरान्त नामक जनपद में।" भिक्षु पूर्ण ने उत्तर दिया।

"सूनापरान्त के मनुष्य कठोर वचनों का प्रयोग करेंगे, तो तुम्हें कैसा लगेगा ?"

"मैं समझूँगा कि वे भले हैं, क्योंकि मुझपर हाथ नहीं छोड़ते।"

"यदि उनमें से कुछ ने धूलि फेंकी और थप्पड़ लगाई तो ?"

"मैं उन्हें इसलिए भला समझूँगा कि वे मुझपर डंडों का तो प्रयोग नहीं करते।"

"डंडे मारने वाले भी दस-पाँच मनुष्य मिल सकते हैं !"

"मैं समझूंगा कि वे भी भले हैं, क्यों कि शस्त्र चलाकर प्राण तो नहीं लेते।"

"यदि शस्त्र से मार डालें, तो ?"

"तो भी समझूँगा कि सूनापरान्त के लोग भले हैं; क्योंकि कोई-कोई व्यक्ति जीवन से तंग आकर आत्म-हत्या करने के लिए शस्त्र खोजते हैं और वह शस्त्र मुझे अनायास ही प्राप्त होता है।"

शिष्य की बात सुनकर बुद्धदेव बड़े ही प्रसन्न हुए; बोले "अब तुम पर्यटन करने के योग्य हो गये हो ! सच्चा साधु वही है, जो कभी भी किसी भी दशा में किसी को बुरा नहीं कहता। जो दूसरों की बुराई नहीं देखता, जो सबका भला ही समझता है, वही परिव्राजक होने योग्य है।"

५. गिरवी के पत्थर

एक बार गुरु नानक बगदाद गये हुए थे। वहाँ का शासक बड़ा ही अत्याचारी था तथा जनता को कष्ट दे-देकर उनकी सम्पत्ति को लूटकर अपने खजाने में जमा किया करता। उसे जब मालूम हुआ कि हिन्दुस्थान से कोई साधु पुरुष आया है, तो वह नानकजी से मिलने उनके पास गया। कुशल-समाचार पूछने के उपरान्त नानकजी ने उससे १०० पत्थर गिरवी रखने

की विनती की। शासक बोला "पत्थरों को गिरवी रखने में कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु आप उन्हें ले कब जायेंगे ?"

"आपके पूर्व ही मेरी मृत्यु होगी। मेरे मरणोपरान्त इस संसार में आपकी जीवन-यात्रा समाप्त होने पर जब आप मुझसे मिलेंगे, तब इन पत्थरों को मुझे दे दीजिएगा।" नानक बोले।

"आप भी कैसी बातें करते हैं, महाराज! भला इन पत्थरों को लेकर मैं वहाँ कैसे जा सकता हूँ?"

"तो फिर जनता को चूस-चूसकर आप जो अपने खजाने में नित्य वृद्धि किये जा रहे हैं, वह क्या सब यहीं छोड़ेंगे ? उसे भी अपने साथ ले ही जाएँगे। बस साथ में मेरे इन पत्थरों को भी लेते आइएगा।"

उस दुराचारी की आँखें खुल गईं। नानक के चरणों पर गिरकर उनसे क्षमा माँगी और प्रजा को कष्ट न देने का वचन दिया।

६. सच्ची बेटी

हजरत मोहम्मद एक दिन अपनी बेटी फातिमा से मिलने उसके घर गये। वहाँ जाकर देखा कि बेटी ने हाथों में चाँदी के मोटे-मोटे कंगन पहने हैं और दरवाज़ों पर रेशमी परदे लहरा रहे हैं। वे बिना कुछ बोले उल्टे पाँव वापस चले आये और मस्जिद में जाकर पश्चाताप करने लगे।

फातिमा की समझ में कुछ न आया। उसने अपने लड़के को दौड़ाया कि देखकर आवे कि नाना घर आकर एकाएक वापस क्यों चले गये ?

लड़के ने जाकर देखा कि नाना मस्जिद में बैठकर विलाप कर रहे हैं। उसने उनसे कारण पूछा, तो वे बोले " यहाँ गरीब भूख से परेशान है और मेरी बेटी रेशमी परदों के बीच चाँदी के कड़े पहने मौज कर रही है। यही देख मुझे शर्म आई और मैं यहाँ चला आया। "

बच्चे ने घर जाकर अपनी माता से सारा हाल सुनाया। फातिमा ने रेशमी परदों में उन चाँदी के कड़ों को बाँधकर अपने पिता के पास भिजवा दिया। तब मोहम्मद साहब ने उन्हें बेचकर गरीबों को रोटी बाँटी और फिर बेटी के पास आकर बोले, " अब तू मेरी सच्ची बेटी हुई। "

७. रोगी और वैद्य

केपरनाम में ईसामसीह अपने बारह शिष्यों के साथ अल्फियस के पुत्र लेवी के घर भोजन करने गये। भोजन में बहुत से भटियारे, कलार तथा दुराचारी भी आये थे। ईसा ने सबके साथ समभाव और स्नेह से बात की और आनन्दपूर्वक भोजन किया। विरोधियों को यह समाचार ज्ञात हुआ, तो उन्होंने

ईसा के अनुयायियों को ताने दिये, "तुम्हारे गुरु को ये दुराचारी ही मिले बातें करने के लिए ? क्या केपरनाम में कोई सभ्य-सज्जन नहीं रहता ?"

बात जब ईसामसीह के कानों में पड़ी, तो विरोधियों के अज्ञान की बात सोचकर वे खिन्न हो गये और बोले, "भाई, उनसे पूछो कि वैद्य की आवश्यकता किसे होती है ? – स्वस्थ व्यक्ति को या रोगी को ? और जितना भी पाप या दुराचार है, वह मानसिक-आत्मिक रोग ही तो है, जिसका निवारण करना ईश्वर के पुत्र का विश्वास है।"

८. भयंकर भूल

तपती दोपहरी में ईरानी सन्त शेख सादी नमाज पढ़ने मस्जिद जा रहे थे। पैरों में जूते न थे, अतः उन्हें बड़ी पीड़ा हो रही थी। इतने में एक आदमी चमचमाते जूते पहने वहाँ से निकला। वह भी नमाज पढ़ने जा रहा था। सादी का दिल उदास हो गया। एकाएक वे बोल उठे, "परवर दिगार ! यह है तेरा न्याय ? मेरे पास पहनने के लिए फटी-पुरानी जूतियाँ भी नहीं और यह आदमी चमचमाते जूते पहने हुए है !"

थोड़ी देर चलने पर उन्हें एक अपंग फकीर दिखाई दिया। वह भी नमाज पढ़ने मस्जिद जा रहा

था। उसे देखते ही सादी की आँखें खुल गईं। तत्काल ही उन्होंने अपने को एक तमाचा मारा और दोनों हाथ उठाकर कहने लगा, "अल्लाह! मुझे माफ करना। मुझसे भयंकर भूल हो गई। तूने मुझे कैसे सुन्दर पैर दिये हैं, जब कि यह बेचारा तो अपंग है।"

●

मृत्यु दुःखदायी मानी जाती है परन्तु वह जीवन में एक बार ही दुःख देती है, लेकिन आत्महीनता ऐसी मृत्यु जो पल–पल पर आती है और तिल–तिल करके आन्तरिक शान्ति को जलाती रहती है।

*　　*　　*

त्याज्या भविष्यतश्चिन्ता नैव सा कार्यसाधिका।
क्रियते चेत् तदा कार्या चारित्रस्य समुन्नते :॥

– भविष्य की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए, उससे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। यदि चिन्ता की ही जाय तो चरित्र की उन्नति की करनी चाहिये।

साध्वी सुकन्या

संतोषकुमार झा

महाराज शर्याति उदरशूल से पीड़ित थे। वन-विहार और आखेट के लिए आए राजा अकस्मात् अस्वस्थ हो गये। सेविकाएँ राजवैद्य के शिविर में दौड़ पड़ीं। किंतु यह क्या! राज वैद्य स्वयं उदरशूल से पीड़ित थे। मलमूत्रावरोध से उन्हें बड़ा कष्ट हो रहा था। शिविर में चारों ओर कुहराम सा मचा था। मंत्री, सेनापति, सेवक, भाट, सैनिक सभी एक साथ ही इस विचित्र रोग से पीड़ित थे। राजा की संपूर्ण सेना विपत्ति में थी।

बड़े कष्ट से एक वृद्ध पुरोहित महाराज के समीप आये। उन्होंने निवेदन किया– "महाराज! इस वन में किसी स्थान पर परम तेजस्वी भृगुनन्दन च्यवन तपस्या करते हैं। किसी के द्वारा जाने–अनजाने उनके प्रति कोई अपराध हो गया है। मेरा अनुमान है कि इसी अपराध के फलस्वरूप सारी सेना इस यंत्रणादायक रोग की शिकार बन गई है, तथा आप स्वयं भी कष्ट पा रहे हैं। इस कष्ट से त्राण पाने के लिए शीघ्र ही यह पता लगाया जाय कि कहीं किसी के द्वारा ऋषि के प्रति अपराध तो नहीं हुआ है। यदि हुआ है तो उस

अपराधी का पता लगाकर ऋषि प्रवर से क्षमा याचना की जाय।"

सारे सैनिक, सेनापति, मंत्री आदि राजा के शिविर के सम्मुख उपस्थित हुए। महाराज शर्याति ने स्वयं सबसे पूछा कि जाने-अनजाने में किसी के द्वारा ऋषि के प्रति कोई अपराध तो नहीं हुआ है। किंतु सभी ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि उन्होंने इस समूचे वन्य प्रदेश में किसी भी तपस्वी ऋषि-मुनि को नहीं देखा है और न इस वनस्थली में कोई आश्रम ही देखा है। फिर भला कैसे किसी से ऋषि का अपराध हो सकता है ?

महाराज शर्याति की कोमलाँगिनी पुत्री सुकन्या भी दुखित हो रही थी। उस विवाद के क्षणों में उसे स्मरण हो आया कि कल प्रात:काल की ही तो बात है, वह अपनी सहेलियों के साथ खेलने के लिए वन से दूर निकल गई थी। आनंद विभोर हो वह फूल तोड़ती, उन्हें मसलती, वृक्षों की छोटी-छोटी टहनियों को तोड़ती अकेली ही वन में दूर तक चली गई थी। वहाँ उसे दीमक की एक बड़ी बाँबी दिखी थी। कौतूहलवश वश वह घूम-घूमकर उसे चारों ओर से देखने लगी। हठात् उसकी दृष्टि बाँबी के भीतर जुगनू की भाँति चमकती हुई किन्हीं दो बस्तुओं पर पड़ी। सुकन्या को

यह जानने की उत्सुकता हुई कि वे चमकीली वस्तुएँ क्या हैं। उसने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। पास ही बेल का एक विशाल वृक्ष था। उसके नीचे बेल के कुछ सूखेकाँटे पड़े थे। राजकुमारी ने उनमें से एक बड़ा सा काँटा उठा लिया और जिज्ञासावश उन चमकीली वस्तुओं को बींध दिया। उनमें थोड़ा रक्त भी निकला था। काँटे भी रक्त से भींग गये थे। यह देख सुकन्या सहम गई और वहाँ से भाग आई थी।

राजकुमारी की विचारधारा टूटी। वह अपने पिता महाराज शर्याति के पास आयी और उनसे कहा, "पिताजी, कल प्रात: मैं अपनी सखियों के साथ वन में खेल रही थी। वहाँ मुझे दीमक की एक बड़ी बाँबी दिखी। मैं उसे उत्सुकतावश चारों ओर से देख रही थी कि उसमें मुझे जुगनु की भाँति चमकती हुई दो वस्तुएँ दिखीं। मैंने उसे बेल के सूखे काँटों से बींध दिया था। उनसे थोड़ा रक्त भी निकला था।"

पुत्री की बात सुनकर राजा अपने मंत्रियों और सेवकों के साथ उस स्थान पर गये जहाँ वह दीमक की बाँबी थी। सुकन्या भी साथ थी। उन्होंने देखा, उस सूखी बाँबी में अभी भी रक्त के चिन्ह शेष हैं। राजा ने आज्ञा दी कि सावधानी पूर्वक उस बाँबी को तोड़कर देखा जाय कि उसके भीतर क्या है। सैनिकों ने साव–

धानी से उस बाँबी को तोड़ा। सभी ने साश्चर्य विस्फारित नेत्रों से देखा कि उस बाँबी के भीतर एक कृषकाय तपस्वी ध्यान मुद्रा में बैठे हैं। उनके नेत्रों से रक्त की धारा बह कर उनके कपोलों पर सूख गई है।

महाराज शर्याति ने प्रणिपात कर निवेदन किया, "भृगुनन्दन ! महर्षे ! दया कीजिए। भगवन् ! आपके कोप से सारी सेना दुख से कराह रही है। सभी के प्राण संकट में हैं। आपही की कृपा से हमारे प्राणों की रक्षा हो सकती है।" राजा के साथ साथ सेनापति एवं मंत्रियों ने भी कातर में प्रार्थना की।

महर्षि च्यवन ने आक्रोश पूर्ण स्वर में प्रश्न किया, "किसने मेरी आँखों को बींधा है ?"

ऋषि की गम्भीर वाणी सुनकर क्षण भर के लिए सभी काँप उठे। राजा ने साहसपूर्वक अपना परिचय दिया और कहा, "भगवन्, भूल से मेरी अबोध पुत्री सुकन्या द्वारा यह अपराध हो गया है। वह भी यहाँ उपस्थित है तथा आपसे अपने अपराध के लिए क्षमा माँग रही है। इस अबोध बालिका पर दया कीजिए।"

ऋषि च्यवन की गंभीर वाणी गूँज उठी, "राजन् ! इस अपराध का तुम्हारी पुत्री को प्रायश्चित करना होगा। कहो, क्या तुम उससे प्रायश्चित करवाने के लिए प्रस्तुत हो ?"

भयविनीत राजा ने दीन स्वर में कहा, "भगवन्, जैसी आपकी आज्ञा।"

च्यवन की मुख मुद्रा गंभीर हो उठी। बोले, "राजन्! तुम्हारी पुत्री ने मुझे अन्धा कर दिया है। अब मुझे आजीवन एक ऐसे सेवक की आवश्यकता होगी जो दिन रात मेरी सेवा में रह सके। अतः तुम अपनी पुत्री को मुझे पत्नी के रूप में दे दो।"

शर्याति पर मानो वज्रपात हो गया। उनकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। उनकी चार सौ रानियों में एकमात्र प्राप्त संतान उनकी प्राण प्रिया पुत्री सुकन्या का विवाह एक वृद्ध, मात्र अस्थिचर्म शेष, निर्धन तपस्वी के साथ हो! शर्याति का कण्ठ सूख गया। उनकी वाणी जकड़ गयी।

सुकन्या पास ही खड़ी थी। उसने भी ऋषि की बात सुन ली थी। पिता की दयनीय दशा, सेना का भीषण कष्ट वह स्वयं अपनी आँखों से देख रही थी। वह जानती थी कि वही इस विपत्ति का कारण है तथा उसके ही पास इस विपत्ति के निवारण का उपाय भी है। उसका निर्णय महाराज शर्याति तथा उनकी प्रजा के भाग्य का निर्णय था। एक ओर प्रजा और पिता का यह कष्ट था और दूसरी ओर थी जीवन के सभी सुखों की सदैव के लिए आहुति– वृद्ध ऋषि की सेवा में वनवासिनी होकर [illegible] कर जलना।

राज वैभव में पली महाराज शर्याति की एक-मात्र कन्या, जिसने अभी ही यौवन की देहलीज पर पाँव रखे थे, जिसे राज महल में तिनका भी उठाने का अभ्यास नहीं था, सैकड़ों दासियाँ जिसके संकेत पर सेवा के लिए प्रस्तुत रहती थीं, उसे ही अब वनवासिनी होकर एक अंधे तपस्वी की अहर्निश सेवा का व्रत लेना होगा ! एक ओर कर्तव्य और धर्म का आह्वान था तो दूसरी ओर राज वैभव और ऐश्वर्य भोग का प्रबल प्रलोभन। इस द्वन्द्व में से सुकन्या को अपने भावी जीवन का निर्णय करना था।

मनुष्य का जीवन ऐसी ही संक्रान्तियों में से होकर गुजरता है। संक्रान्ति के क्षणों में व्यक्ति द्वारा लिया गया निर्णय उसके चरित्र की परीक्षा होती है। अंतःकरण में जब त्याग और भोग का, श्रेय और प्रेय का, कर्तव्य और अकर्तव्य का भीषण द्वन्द्व चलता है, तब मन की गहराइयों में छिपे चिर संचित संस्कार प्रकट होते हैं। इनमें से शुभ-अशुभ, उच्च-निम्न सभी प्रकार के संस्कार होते हैं। इन संस्कारों की प्रबलता ही हमें त्याग अथवा भोग, श्रेय अथवा प्रेय, कर्तव्य अथवा अकर्तव्य के पक्ष या विपक्ष मे निर्णय लेने को बाध्य करती है। यदि हमने दैनंदिन जीवन के छोटे छोटे कार्यों और व्यवहारों में अशुभ के स्थान पर शुभ का चयन किया है, भोग के बदले त्याग का [illegible] किया

है और प्रमाद के बदले कर्त्तव्य को स्वीकार किया है, तो जीवन के कठिन संक्रान्ति–काल में भी हम भोग के बदले त्याग का, प्रेय के बदले श्रेय का और प्रमाद के बदले कर्त्तव्य का ही वरण करते हैं। फिर इस चयन में यदि जीवनाहुति भी देनी पड़े तो ऐसा व्यक्ति उसे सहर्ष स्वीकार कर लेता है। उसके मन के शुभ सात्विक संस्कार उसे इतना प्रचण्ड मानसिक सामर्थ्य प्रदान करते हैं कि विश्व की कोई भी बाधा, कोई भी प्रलोभन उस व्यक्ति को कर्त्तव्यच्युत नहीं कर सकता। उसका चरित्र इतना दृढ़ एवं स्थिर हो जाता है कि उसे स्खलित नहीं किया जा सकता। वह अजेय हो जाता है।

राजकुमारी सुकन्या के त्याग और कर्त्तव्य परा-यणता की कठिन परीक्षा की घड़ी थी। उसके भी अन्त-र्मन के संस्कार प्रबल हो उठे थे। आज उसे अंतिम निर्णय करना था। त्याग अथवा भोग के जीवन का सदैव के लिए वरण करना था। सुकन्या ने बाल्यावस्था से ही यत्न पूर्वक अपने हृदय में शुभ संस्कारों को संचित करने का प्रयास किया था। इससे उसे प्रबल शक्ति प्राप्त हुई।

सुकन्या ने उन्नत मस्तक हो दृढ़तापूर्वक निर्णया-त्मक स्वर में कहा, "पिताजी! आप ऋषि प्रवर च्वयन को स्वीकृति दे दीजिए। मुझे आजन्म उनकी सेवा का

व्रत स्वीकार है। मैं उन्हें पति रूप में सहर्ष वरण करती हूँ।"

सुकन्या का अभूतपूर्व त्याग और कर्त्तव्य परा-यणता देख कर सभी लोग धन्य धन्य कह उठे। निरीह राजा शर्याति की चेतना मानो लौट आई। उन्होंने अश्रुपूर्ण नेत्रों से अपनी प्राण प्यारी पुत्री को गले से लगा लिया। उनका हृदय फटा जा रहा था। आँखों से अविरल आँसुओं की धारा बह रही थी। गला रुँध गया था। सुकन्या ने पिता को आश्वस्त किया। पुरोहित आए। यज्ञ सामग्री एकत्रित की गई और शास्त्रोक्त विधि से सुकन्या का च्यवन के साथ विवाह कर दिया गया।

राजा, मंत्री आदि सभी ऋषि कोप से होने वाली पीड़ा से अवश्य ही मुक्त हो गए। किंतु उस पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए उन्हें जो महान मूल्य चुकाना पड़ा था उसके दुख से सभी पीड़ित थे।

अपनी प्यारी पुत्री को ऋषि के हाथों में सौंप कर महाराज शर्याति उदास मन से अपनी राजधानी की ओर चल पड़े। अपनी बिलखती सखियों और दासियों को बिदा कर सुकन्या अपने अंधे और वृद्ध पति की सेवा में लग गई। पास ही एक नदी थी। उसने तट पर एक छोटी सी कुटिया बनाई। उसमें उसने अंधे पति की सुविधा के लिए यथा साध्य सभी व्यवस्थाएँ कर दीं।

पति के जीवन के अनुकूल उसने अपना जीवन भी तपोमय कर लिया। वह पति के यज्ञ आदि कार्यों में सदैव उनके साथ रहती। उनसे पूजन यज्ञ आदि करवाती। जब वे विश्राम करते तो वन में जाकर फल-फूल समिधा आदि एकत्र कर लाती और शेष समय भगवच्चिन्तन में लगा देती।

पत्नी की सेवा-शुश्रुषा से ऋषि च्यवन प्रसन्न थे। उनके दिन आनन्दपूर्वक बीत रहे थे। एक दिन सुकन्या नदी में जल लेने गई थी। वहाँ उस समय देवताओं के वैद्य दोनों अश्विनी कुमार भी आये थे। उस बीहड़ वन में विद्युल्लता सी चमकती सुन्दरी को देख उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उसका परिचय जानने के लिए वे उत्सुक हो उठे। उन्होंने उससे पूछा, "सुन्दरी, तुम कौन हो? इस एकान्त जनहीन वन में तपस्विनी के वेश में तुम किसकी सेवा में रहती हो?"

सकुचाती सुकन्या ने नीची दृष्टि किए हुए संक्षिप्त सा उत्तर दिया, "देवगण, मैं महाराज शर्याति की पुत्री तथा महर्षि च्यवन की पत्नी हूँ। मेरा नाम सुकन्या है।"

देववैद्यों ने व्यंगात्मक ढंग से हँसते हुए कहा, "सुमुखी, तुम उस अस्थिचर्म मय बूढ़े तपस्वी की पत्नी हो! तुम्हारे बुद्धिमान पिता ने भला उस बूढ़े से तुम्हारा

ब्याह क्यों किया ? क्या उन्हें तुम्हारे योग्य कोई राज-कुमार न मिल सका ?"

सुकन्या का मुख रोष से रक्तिम हो उठा। वह बोली, "सुर वैद्यों ! आपको विदित होना चाहिए कि मैंने स्वेच्छा से महर्षि च्यवन को अपना पति स्वीकार किया है।"

अश्विनी कुमारों ने सुकन्या को प्रलोभित करने के उद्देश्य से कहा, "भामिनी ! तुमने स्वेच्छा से अपने यौवन को व्यर्थ करने का व्रत भला क्यों लिया ? तुम्हारा सौंदर्य देव दुर्लभ है। तुम इच्छा मात्र से स्वर्ग के सभी सुखों का भोग कर सकती हो। तुम चाहो तो हम दोनों में से किसी एक को पति रूप में स्वीकार कर स्वर्ग के सुख-भोगों की अधिकारिणी हो सकती हो।"

सुकन्या ने दृढ़ता पूर्वक कहा, "देवगण ! जिस प्रकार कदली वृक्ष में एक ही बार फल लगता है उसी प्रकार आर्य कन्या भी जीवन में एक ही बार पति का वरण करती है। मैंने अपना जीवन महर्षि च्यवन की सेवा में अर्पित कर दिया है। मैं उनके अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष के संबंध में सोच भी नहीं सकती।"

प्रत्यक्ष प्रलोभन से सुकन्या को प्रभावित होते न देख, देव वैद्यों ने उसके साथ छल करने का निश्चय किया। उन्होंने कहा, 'सुन्दरी, हम देवताओं के चिकि-

त्सक हैं। हमारे पास ऐसी औषधि है कि हम तुम्हारे वृद्ध पति को यौवन प्रदान कर सकते हैं, उन्हें नेत्र ज्योति दे सकते हैं। किंतु उसके लिए एक शर्त है। वह यह कि तुम्हारे पति को यौवन प्राप्त होने के पश्चात् तुम हम तीनों में से किसी एक का वरण कर लोगी।''

तपस्विनी सुकन्या के मन में भी नारीत्व एवं पत्नीत्व की सुखद कल्पनाएँ आलोड़ित हो रही थी। पति की यौवन–प्राप्ति की आशा ने उसकी कल्पनाओं के संसार को जगा दिया। उसने मन ही मन निश्चय किया कि वह अवश्य ही इस परीक्षा में प्रस्तुत होगी। उसे दृढ़ विश्वास था कि उसका अविचल सतीत्व उसकी रक्षा करेगा। यौवन प्राप्ति के पश्चात् भी वह अपने पति च्यवन का ही वरण करेगी।

उसने सुरवैद्यों से कहा, ''देवगण ! आप यहाँ प्रतीक्षा करें। मैं अपने स्वामी से आपका प्रस्ताव निवे–दित करूँगी। यदि उन्हें वह प्रस्ताव स्वीकार होगा तो मैं उन्हें लेकर यहाँ आऊँगी।''

यह कह कर सुकन्या आश्रम की ओर चल पड़ी। आश्रम पहुँच कर सुकन्या ने पति से देवगणों का प्रस्ताव निवेदित किया। महर्षि च्यवन को पत्नी की मनोदशा समझते देर न लगी। उन्होंने समझ लिया कि उसका नारी हृदय, नारी की परिपूर्णता-मातृत्व के लिए लाला-

यित है। पति के पास यौवन प्राप्ति का प्रस्ताव इसी इच्छा का प्रकाशन मात्र ही तो था। वृद्ध ऋषि च्यवन ने पत्नी की भावनाओं का ध्यान रख कर अनुमति दे दी। सुकन्या खिल उठी। वह अंधे पति को सहारा देकर देव वैद्यों के पास ले आई। अश्विनी कुमारों ने ऋषि च्यवन को कुछ औषधि दी तथा उन्हें अपने साथ लेकर नदी के जल में उतर गये। सुकन्या तट पर ही खड़ी-खड़ी यह सब देखती रही। थोड़ी देर में अश्विनी कुमारों ने ऋषि को साथ लेकर जल में डुबकी लगाई। कुछ क्षणों पश्चात् सुकन्या ने आश्चर्य-विस्फारित नेत्रों से देखा कि जल के भीतर से अत्यन्त रूपवान् सर्वथा एक समान ही दिखने वाले तीन युवक बाहर आ रहे हैं। क्षण भर के लिए तो उसे अपने आप पर विश्वास ही न हुआ।

आश्चर्य विमूढ़ सुकन्या को सम्बोधित करते हुए उनमें से एक ने कहा, "देवि ! तुम हममें से किसी एकको अपने पति के रूप में स्वीकार कर लो।"

सुकन्या धर्म संकट में पड़ गई। तीनों युवक एक ही रूप–रंग के थे। वह कैसे निर्णय करे कि उसके पति ऋषि च्यवन कौन हैं ? भय एवं निराशा से उसका मन काँपने लगा। क्या पुनः उसके सतीत्व की परीक्षा हो रही है ? कहीं ऐसा न हो कि अज्ञानवश वह देव

वैद्यों में से एक को अपना पति चुन ले और उसका सतीत्व नष्ट हो जाय।

उसने मन ही मन भगवान् से कातर प्रार्थना की– "प्रभो ! मेरी लाज रखो। मेरे सतीत्व की रक्षा करो! मुझे इस परीक्षा में उत्तीर्ण करो।" भगवान् ने उसकी प्रार्थना सुन ली। देव वैद्यों ने अपने अपने चिह्न धारण कर लिए और अपना रूप प्रकट कर दिया। सुकन्या ने आदर पूर्वक उन्हें प्रणाम किया और अपने यौवन प्राप्त पति के साथ आनन्द विह्वल हो आश्रम की ओर चल पड़ी।

सुकन्या का चरित्र कर्त्तव्य निष्ठा एवं पति–परायणता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। सुखी दाम्पत्य जीवन तथा सुदृढ़ और समृद्ध समाज की रचना में गृहिणी का महत्वपूर्ण योगदान होता है। महाभारत में वर्णित सुकन्या का यह उज्ज्वल चरित्र आज भी हमारी ललनाओं को प्रेरणा देने के लिए पर्याप्त है।

●

क्या तुम्हें मालूम है कि सात्विक प्रकृति का व्यक्ति कैसे ध्यान करता है? वह आधी रात को अपने बिस्तर के अन्दर ध्यान करता है ताकि लोग उसे देख न सकें।

— श्रीरामकृष्ण

ब्रदर लारेन्स

डा. अशोक कुमार बोरदिया

(१)

जिस प्रकार तारों की ज्योति से चन्द्रमा मन्द नहीं हो सकता, बादलों से ढँके रहने पर भी प्रचण्ड सूर्य छिपता नहीं, और देह पर भभूति लगाने से भी चक्रवर्ती सम्राट् अपने आप को छिपा नहीं सकता, उसी प्रकार सच्चा सन्त पहाड़ों की कन्दराओं में रहते हुए भी अनचीन्हा और अज्ञात नहीं रह सकता। ब्रदर लारेन्स जैसे महान ईश्वर-भक्त भले ही जीवन का अधिकतर समय किसी मठ के अँधेरे रसोई घर में क्यों न बिता दें, पर अन्ततः वे आध्यात्मिक जिज्ञासुओं से छिपकर नहीं रह सकते। पुष्प के खिलने पर भ्रमर आकर्षित हो ही जाते हैं।

ब्रदर लारेन्स ने न तो कभी प्रवचन दिये, न ही बिना पूछे आध्यात्मिक मार्ग-प्रदर्शन किया। वे सर्वसाधारण से अधिक नहीं मिलते-जुलते थे। आज लगभग तीन सौ वर्षों के बाद हम उन्हें केवल ६० पृष्ठों की एक छोटी सी पुस्तक "प्रैक्टिस ऑफ दि प्रेजेन्स ऑफ गॉड" के माध्यम से जानते हैं, जिसमें उनके कुछ वार्तालापों और पत्रों का संकलन है। उनके जीवनकाल में ही उन्हें निर्विवाद रूप से महान् सन्त

स्वीकार किया गया था, और उस समय के बड़े-बड़े धर्माचार्य और पादरी उनसे मिलने तथा सत्परामर्श पाने आया करते थे। आध्यात्मिक जीवन में इतनी उच्च अवस्था उन्होंने धर्मग्रन्थों को पढ़कर अथवा तपस्या के द्वारा नहीं प्राप्त की थी, वरन् ईश्वर-प्रेम के " ढाई अक्षर " को पढ़कर हासिल की थी। आइये, उस सन्त शिरोमणि के जीवन के जो भी तथ्य ज्ञात है, उनका अवलोकन करें।

(२)

ब्रदर लारेन्स का जन्म फ्रांस के लोरेन प्रान्त में सन् १६११ ई. में हुआ था। माता-पिता धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। इनका नाम हरमन रखा गया। १८ वर्ष की उम्र में वे सैनिक बने किन्तु एक हमले के समय घायल हो जाने पर उन्हें सेना की नौकरी छोड देनी पड़ी। संभवतः इसी समय उनकी एक टाँग भी जाती रही थी। इसके बाद उन्होंनें कुछ और काम-काज किये। कहीं कहीं परिचारक का भी काम किया किन्तु, उन्ही के शब्दों में, वे " छोटे मोटे काम भी कुशलता से नहीं कर पाते थे, और प्रायः उनसे टूट-फूट हो जाती थी।" तात्पर्य यह कि उनमें न कोई व्यव-साय करने की दक्षता थी, और न वे किसी कार्य में ही सफल हो सके। इसी समय उनके धार्मिक संस्कारों

को उनके एक सन्यासी चाचा से प्रोत्साहन मिला। वे आध्यात्मिक भूख और एकान्तवास की इच्छा से प्रेरित हो जंगल में कुटिया बनाकर रहने लगे। किन्तु इसमें भी वे असफल रहे। कई बार उन्होंने एकान्त में साधना करने का प्रयत्न किया, किन्तु ऐसा करने मे उन्हें महान आध्यात्मिक अस्थिरता एवं अनिश्चितता से गुजरना पड़ा। भीषण अन्तर्द्वन्द्व के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनके लिये एकान्तवास सम्भव नहीं, अतः उन्हें अपने आप को किसी कठोर नियंत्रण के अधीन रखना चाहिये। अन्त में वे पेरिस के एक मठ में सम्मिलित हो गये, जहाँ उन्हें रसोईघर में कार्य करने की आज्ञा दी गई। उनका नाम बदल कर "लारेन्स आफ रिज़रेक्शन" रखा गया। इसके बाद का सारा जीवन उन्होंने रसोईघर में ही बिताया।

लम्बी बीमारी के बाद, ब्रदर लारेन्स की मृत्यु अस्सी वर्ष की उम्र में सोमवार दि. १२ फरवरी १६९१ ई. को प्रातः ९ बजे हुई।

(३)

ब्रदर लारेन्स का जीवन चमत्कारों और घट–नाओं से भरा हुआ नहीं है। वह तो रसोईघर की चारदीवारी में छिपा हुआ एक सीधा और सरल जीवन है। उनके वार्तालापों और पत्रों से उनके

आध्यात्मिक जीवन के उतार-चढ़ाव, उनकी साधना पद्धति और उनके आन्तरिक जीवन के इतिहास की कुछ झलक हमें प्राप्त होती है। और यही हमारे लिये अधिक महत्वपूर्ण हैं।

माता-पिता से प्राप्त जो धार्मिक संस्कार ब्रदर लारेन्स में जन्म से ही अव्यक्त रूप में मौजूद थे, वे उनके अठारहवें वर्ष की शरद् ऋतु के एक दिन अंकुरित हो उठे। जब वे पत्ते झड़े हुए वृक्षों को देखते तो विचार करने लगते कि शीघ्र ही वसंत के आगमन पर, ये वृक्ष फिर से पत्तों से आच्छादित हो जायेंगे और इनपर फल फूल लगेंगे। यह विचार उन्हें परमेश्वर की महान कृपा और शक्ति का आभास कराता। धीरे धीरे इस विचार के प्रगाढ़ होने पर उनका मन संसार से विरक्त हो गया और उनमें तीव्र ईश्वर प्रेम का उदय हुआ।

हम भी तो प्रतिवर्ष वृक्षों को पल्लवविहीन होते देखते हैं और हमारे सम्मुख ही फिर से पल्लवित हो जाते हैं। फलना, फूलना और मुरझाना हमारे भी सामने होता रहता है। किन्तु प्रकृति के ये सारे क्रम क्या हमें ईश्वर के विधान का, कृपालु प्रभु के हमारे प्रति प्रेम का और उनकी महान शक्ति का सन्देश देते हैं? नहीं! अगर हम चाहें तो छोटी से

छोटी वस्तु में ईश्वर की दया और इच्छा को देख सकते हैं। पर सत्य तो यह है, कि ऐसी घटनाएँ केवल भावी सन्तों के अन्तरतल को ही छू पाती हैं और उनके सारे जीवन–प्रवाह को नया मोड़ दे देती हैं।

ब्रदर लारेन्स आध्यात्मिक भूख से पीड़ित हो अकेले ही इस पथ पर बिना किसी मार्गदर्शक के अग्र–सर हुए थे। उन्होंने एकान्त में साधना करने का प्रयत्न किया, किन्तु उन्हें असफलता ही हाथ लगी और अनिश्चितता तथा अस्थिरता का पहला कटु अनुभव हुआ। उनके पत्रों से हमें ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में वे सर्वसाधारण की तरह मृत्यु, प्रलय के समय ईश्वर द्वारा किया हुआ निर्णय, स्वर्ग, नर्क और खुद के पापों आदि का चिन्तन किया करते थे, जैसा कि ईसाई धर्मावलंबियों को सिखाया जाता है। प्रारम्भ के दस वर्ष उनके लिए भीषण मानसिक वेदना और अशान्ति के थे। उन्हीं के शब्दों में– "मुझे यह भय रहता था कि मैं पापी हूँ, मुझमें पर्याप्त मात्रा में ईश्वर भक्ति नहीं है। पर इसके बावजूद भी ऐसा लगता था कि कृपालु भगवान् की मुझ पर असीम कृपा है। कभी कभी ऐसा प्रतीत होता था कि मानव बुद्धि व ईश्वर सभी मेरे विरुद्ध है।"

इतना सब होते हुए भी उन्होंने ईश्वर-चिन्तन कभी नहीं छोड़ा। वे रात-दिन, उठते-बैठते, चलते-फिरते, और यहाँ तक कि कामों में व्यस्त होते हुए भी भगवान् को याद करते थे। प्रभु की समीपता का अनुभव करने का प्रयत्न ही उनकी प्रमुख साधना थी।

रसोईघर के अरुचिपूर्ण कार्य को भी ब्रदर लारेन्स ने ईश्वर-समर्पण भाव से किया। भगवान् के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण का अभ्यास करते रहने के कारण तथा श्रद्धा, प्रेम व निःस्वार्थता के फलस्वरूप वे शीघ्र ऐसी अवस्था में पहुँच गये, जहाँ उनके सारे कष्टों का अन्त हो गया। वे सदा ही ईश्वर की इच्छानुरूप कार्य करने का प्रयत्न करते। ऐसा कोई कार्य न करते, कोई विचार मन में न लाते और अपने मुख से ऐसा शब्द न निकालते जो भगवान् की इच्छा के विरुद्ध हो। वे आध्यात्मिक जीवन में न तो भय के वशीभूत होकर अग्रसर हुए थे, और न ही स्वर्गादि की इच्छा से प्रेरित होकर। वे तो प्रारम्भ से केवल ईश्वर-प्रेम से आकर्षित होकर धार्मिक जीवन की ओर झुके थे। उन्होंने न तो किसी विशिष्ट तपस्या अथवा कर्मकांड आदि का सहारा लिया, न ही किसी निर्धारित आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण किया। वे तो प्रभु के सम्मुख सरलता और विनम्रता के साथ जाते थे। कभी कभी

वे अपने आपको एक भिखारी अथवा कुष्ठरोगी के रूप में कल्पना करते, जो परमात्मा के सम्मुख मूक भाव से खड़ा हो और विचारों को उठाये बगैर केवल उनके मुख की ओर प्रेमपूर्ण एकटकी लगाये हो। उनकी प्रार्थनाएँ लम्बी और काव्यपूर्ण नहीं होती थीं, बल्कि कुछ ही शब्दों की एवं सरल होती थीं।

इस प्रकार की निरन्तर साधना के फलस्वरूप वे शोक और विलाप से ऊपर उठ गये। उन्हें मोची-कार्य दिया गया और शराब खरीदने भेजा गया। इन दोनों कार्यों से वे पूर्णतया अनभिज्ञ थे। पर ईश्वर की कृपा से, बिना किसी प्रकार की चिन्ता या संकोच के उन्होंने वह कार्य सम्पन्न किये। उनके भीतर यही भावना रही कि वे कार्य भी ईश्वर के ही हैं, और ईश्वर ही उसके लिए उन्हें शक्ति और सामर्थ्य प्रदान करेंगे। प्रभु के लिये भूमि से एक तिनका भी उठाना उनके लिये सौभाग्यशाली कार्य था।

इस आनन्दपूर्ण अवस्था में पहुँचने के बाद ही वे इस प्रकार के उद्‌गार प्रकट कर सके थे– "मेरी आत्मा लगभग तीस वर्षों तक भगवान् के साथ रही;" और "मैं अब विश्वास नहीं करता, क्योंकि मैं ईश्वर को देखता हूँ; जो हमें सिखाया जाता है, उसका मैं प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ," इत्यादि। इन उद्‌गारों से

यह प्रतीत होता है कि उन्हें ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे।

ब्रदर लारेन्स की आजीवन एक इच्छा थी कि वे ईश्वर की कृपा स्वरूप कुछ कष्ट सहन करें, जो उनके अन्तिम दिनों में पूर्ण हुई। उन्होंने अपनी आखिरी कष्टप्रद बीमारी को ईश्वर का प्रसाद ही माना। सदा की तरह वे ईश्वर की आराधना करते रहे और उन्हें धन्यवाद देते हुए उनमें सदा के लिये लीन हो गये।

(४)

ब्रदर लारेंस ने वार्तालापों और पत्रों माध्यम से जो उपदेश मुमुक्षुओं को दिये हैं उसका सार है—"ईश्वर की समीपता को अनुभव करने का अभ्यास।" प्रत्येक व्यक्ति यह अभ्यास कर सकता है, हर समय और कई प्रकार से कर सकता है। कभी हम यह सोच सकते हैं कि भगवान हमारे कार्यों में हाथ बटा रहे हं, अथवा उन्हें ध्यान पूर्वक देख रहे हैं। कभी हमारे पास बैठे हैं, तो कभी हमारे साथ चल फिर रहे हैं। कभी कभी हम उनसे प्रार्थना कर सकते हैं, तो कभी प्रेम पूर्ण उलाहना दे सकते हैं। अपने व्यस्त क्षणों के बीच हम पल भर के लिये रुक कर अपने हृदय में कल्पना के सहारे प्रवेश कर सकते हैं, जहाँ हम अपने

प्रियतम भगवान् से मानो चोरी से मिल सकते हैं। जहाँ और कोई देखता नहीं। इस प्रकार के छोटे–छोटे प्रयत्न भगवान को अत्यधिक प्यारे लगते हैं। आखिर वह हमारी विवशताओं को तो भली भाँति जानता है;

ब्रदर लारेंस की राय में इस प्रकार की साधना के लिये श्रद्धा और विश्वास नितांत आवश्यक है। साथ ही उच्च कोटि की पवित्रता और इन्द्रिय संयम अनिवार्य हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि शरीर को आवश्यकता से अधिक तपस्या की अग्नि में जलाया जाय, अथवा कृषकाय बना दिया जाय। उनके मता–नुसार इन्द्रिय संयम को ईश्वर के प्रति प्रेम का स्वाभा-विक परिणाम होना चाहिये।

आध्यात्मिक जीवन की कठिनाइयों में से स्वयं गुजरे हुए होने के कारण ब्रदर लारेंस अन्य साधकों की शंकाओं का समाधान करने में समर्थ थे और कई महत्व-पूर्ण प्रश्नों पर उन्होंने उपयुक्त उत्तर दिये हैं। मन पर नियंत्रण पाने की कठिनाई के बारे में वे कहा करते थे कि यह कोई नयी बात नहीं। सभी साधकों को विचलित मन का सामना करना पड़ता है। मन का स्वभाव ही है भटकना। संस्काररहित मन पर काबू पाना अति कठिन कार्य है। इसका एक उपाय यह है कि हम भगवान् के सम्मुख अपनी असमर्थता स्वीकार

करें और उनसे शक्ति के लिये प्रार्थना करें तथा धीरज रखें। व्यग्र और अधीर हो उठने से मन की एकाग्रता बढ़ने की बजाय कम ही होती है। मनको प्रार्थना व ध्यान के समय सरलता से शान्त करने का उपाय यह है कि उसे अन्य समय में भी भगवान् के चिन्तन में लगाये रखा जाय।

एक संन्यासिनी को जो संभवत: किसी लंबे कष्ट-प्रद रोग से पीड़ित थी, ब्रदर लारेंस ने बहुत ही मर्मस्पर्शी और सांत्वनापूर्ण पत्र लिखे हैं। उनमें उन्होंने दुखों के प्रति आध्यत्मिक साधक का क्या दृष्टिकोण होना चाहिये इसकी सुन्दर रूप से चर्चा की है। वे लिखते हैं–"मुझे तुमसे ईर्ष्या होती है, क्योंकि तुम्हें प्रभु के लिये दुख सहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और मुझे नहीं।. . . भगवान स्वस्थ अवस्था की तुलना में कमजोरी और बीमारी के समय हमारे अधिक निकट होते हैं।. . . ईश्वर कई प्रकार से भक्त को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करते हैं। कभी वे आनन्द और आध्यात्मिक सांत्वना दान करते हैं, तो कभी हमारे हृदय को सूखा और भावना शून्य बना कर मानसिक वेदना देते हैं। प्राय: वे शारीरिक कष्ट के रूप में भक्त के पास आते हैं।. . . वे जो कुछ भी करते हैं, हमारे भले के लिये ही है। दुखों के माध्यम से वे हमें पवित्र

बनाते हैं ।...अगर हमें यह विश्वास हो जाय कि हमारे दुखः शोक हमारे परम स्नेही पिता (ईश्वर) के ही भेजे हुए हैं, तो वे सुख में परिणत हो जायेंगे । जो व्याधि प्रभु की दी हुई है, उसका निवारण प्रभु के द्वारा ही होगा । औषधि आदि बाहरी उपाय उस समय तक उपयोगी नहीं हो सकते हैं, जब तक प्रभु की अनु-मति प्राप्त न हो । अतः सारी चिन्ता प्रभु पर छोड़कर निश्चिन्त हो जाओ । भगवान् को प्यार करो और बाहरी सहायता लेना बन्द कर दो । ... प्रेम दुख को दूर कर देता है ।...अपने आपको उसी की शक्ति से शक्तिसंपन्न करो जो तुम्हें सूली पर चढ़ा रहा है । साहसी बनो । मैं ईश्वर से यह नहीं प्रार्थना करता कि वह तुम्हारा दुख दूर कर दें बल्कि उनसे यही याचना है कि वे जब तक चाहें तुम्हें दुख-कष्ट देते रहें पर साथ ही उस दुःख को सहने की शक्ति और धैर्य भी प्रदान करें ...।"

(५)

ब्रदर लारेंस के जीवन के तात्विक विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक उच्च कोटि के भक्त और कर्मयोगी थे । यदि एक क्षण भी ईश्वर का चिन्तन छूट जाता तो उन्हें नारकीय दुखों को सहने की सी वेदना होती थी । भगवान् को प्रसन्न करने के अलावा

जीवन में उनका और कोई उद्देश्य नहीं था। वे विश्वास और श्रद्धाके मानो मूर्तिमान विग्रह थे। वे प्रत्येक कार्य को ईश्वर को समर्पित करते और अच्छे कार्यों का श्रेय प्रभु को ही देते। यदि कोई भूल हो जाती तो प्रार्थना करते कि 'प्रभु! यदि तू मेरे साथ रहे तो आगे कभी त्रुटि नहीं होगी।'

उनकी राय में वे सभी कार्य अच्छे थे जो समर्पण बुद्धि से किये गये हों। उन्होंने बिना संकोच या दुराव के रसोई घर में कार्य किया। मोची का कार्य तथा अन्य निम्न समझे जानेवाले कार्य केवल ईश्वर को प्रसन्न करने के उद्देश्य से किया। उन्होंने आराधना और अन्य कार्यों में कोई बिलगाव नहीं किया। उनके लिये दोनों समान थे। उनका जीवन ही ऐसा था कि उनके लिए अपना प्रत्येक श्वास-प्रवास, यहाँ तक कि आँखों की पलकों का उठना और गिरना भी प्रभु की आराधना बन चुका था।

जन्म और धर्म से ईसाई होते हुए भी ब्रदर लारेंस ईसाई प्रतीत नहीं होते वे प्रत्येक धर्मावलंबी को उसी के धर्म के व्यक्ति मालूम पड़ते हैं। वे एक महान् ईश्वर-भक्त थे। और सच पूछिए तो सच्चे भक्त की जाति ही क्या होती है! विदेशी होते हुए वे हमें भारतीय ही लगते हैं, और उनके उद्‌गार सदियों पुराने होते हुए

भी बिलकुल नये और ताजा लगते हैं। उस छोटी सी पुस्तक को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है, मानो आध्यात्मिकता की शीतल और स्फूर्तिदायक हवा ने चिन्ता, विषाद और वासना से ग्रस्त हमारे हृदय को छू लिया है। धन्य है वे सन्त, जिनकी वाणी आज भी हमारे संतप्त जीवन को स्फूर्ति और सांत्वना प्रदान करती है और आध्यात्मिक प्रयास को प्रोत्साहित करती है। ब्रदर लारेंस का जीवन प्रत्येक आध्यात्मिक साधक के लिये चिरकाल तक एक उत्कृष्ट अनुकरणीय उदाहरण रहेगा।

●

सूर्य से हमारी दूरी

डा. प्रणव कुमार बनर्जी

एक आस्तिक सूर्य को अर्घ्य दे रहा था।

एक नास्तिक ने कहा, "पहुँच जाएगा तुम्हारा अर्घ्य सूर्य तक ?"

आस्तिक ने नम्रता से कहा, "क्यों नहीं ? इस सम्पूर्ण सौर मण्डल का प्राणदाता पिता है सूर्य। अगर हमारे प्राण का हर स्पन्दन उसकी हर किरण में पहुँचा हुआ रह सकता है तो इस अर्घ्य के उसके पास पहुँचने में शंका कहाँ ?"

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

(गतांक से आगे)

प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा

स्वामीजी के पास अब बहुत कम पैसे शेष रह गये थे। यद्यापि श्रीमती सैनबोर्न ने उनके आवास और भोजन की व्यवस्था की थी तथापि छोटी छोटी चीजों में उनका काफी पैसा खर्च हो जाता था। अब जाड़े का मौसम आ रहा था। उनके पास गरम वस्त्रों का अभाव था। कुछ कपड़े बनवाना जरूरी था। वे एक कोट का आर्डर देने गए। साधारण से कोट का दाम करीब तीन सौ रुपये पड़ा। उनके पास मात्र कुछ ही रुपये बच रहे। अधिक दिनों तक दूसरों पर अवलंबित रहना मुश्किल था। धर्म सभा में भाग लेने का निश्चय वे पहले ही त्याग चुके थे। द्रव्य के अभाव में वहाँ रह पाना असंभव था। उन्होंने उसी दिन अपने मद्रास के शिष्यों को लिखा कि वे शीघ्र ही कुछ रकम उनके पास भेज दें जिससे वे अमेरिका में और कुछ महीने रह सकें, और यदि वे ऐसा करने में असमर्थ हों तो उनके भारत लौटने के ही लिए पैसे भेज दें।

दूसरे दिन उन्हें बोस्टन में एक महिला क्लब में भाषण देनें जाना पड़ा। यह क्लब रमाबाई नामक

हिन्दू विधवा ने जो बाद में ईसाई हो गई थीं, प्रारम्भ किया था। सन १८८७-८९ में उन्होंने अमेरिका के नगरों में ऐसे क्लबों की स्थापना की थी। इन क्लबों का उद्देश्य भारतीय बाल-विधवाओं की सहायता करना था। कहना अयुक्तिसंगत न होगा कि अमरीकी महिलाओं की सहानुभूति अर्जित करने के लिए उन्होंने भारत की महिलाओं का गर्हित चित्रण किया था, हिन्दू समाज की बुराइयों और कुरीतियों का बढ़ा चढ़ा कर प्रचार किया था। स्वामीजी ने अपने भाषण में हिन्दू महिलाओं का जो चित्र खींचा, उससे न केवल हिन्दू नारी के प्रति अमरीकी महिलाओं की भ्रमपूर्ण धारणाओं का निराकरण हुआ वरन् इस क्लब के प्रति भी उन लोगों की सहानुभूति जाती रही। अपने धनोपार्जन के मार्ग में स्वामीजी को बाधक जानकर इन्हीं क्लबों ने बाद में स्वामीजी के प्रचार कार्य में जगह जगह अड़ंगे डाले थे और उन्हें हर तरह से बदनाम करने की कोशिश की थी।

इसी बीच स्वामीजी की भेंट फ्रैंकलिन बेंजामिन सैनबोर्न से हुई। ये सज्जन श्रीमती सैनबोर्न के भतीजे थे तथा एक ख्याति प्राप्त पत्रकार, लेखक और सामाजिक कार्यकर्ता थे। अनेक सहायता कोषों को अर्थ दान करते थे। उन्होंने कई समाज सेवी संस्थाओं की स्थापना भी की थी तथा आपने अल्काट थोरो, इम-

र्संन, आदि मित्रों के ऊपर प्रामाणिक जीवनियाँ भी लिखी थीं।

स्वामीजी से मिलने के पूर्व उनके बारे में इनकी धारणा भ्रमपूर्ण थी पर परिचय के बाद ये उनकी विद्वत्ता और सरलता से बड़े प्रभावित हुए और उनके घनिष्ट मित्र हो गये। उनके सान्निध्य में वे बड़े आनन्द का अनुभव करते थे। उन्होंने स्वामीजी की अद्‌भुत विद्वता और ज्ञान का प्रचार दूर दूर तक कर दिया था। २० अगस्त को जब स्वामीजी श्री सैनबोर्न के साथ बोस्टन गए हुए थे, उस समय हार्वर्ड विश्वविद्यालय के ग्रीक भाषा के प्रोफेसर जेन हेनरी राइट स्वामीजी से मिलने आए। पर उस दिन उनसे भेंट न हो पाई। अतः एक पत्र द्वारा उन्होंने स्वामीजी को अपने एनिस्क्वाम स्थित घर में आने का आमत्रण दिया। उन्होंने स्वामीजी की विद्वता के बारे में सैनबोर्न से ही सुन रखा था। उस समय वे ऋतुलाभ के हेतु अतलांतिक महासागर के तट पर स्थित एनिस्क्वाम नामक मनोरम स्थान पर वास कर रहे थे।

प्राध्यपक राइट का आमंत्रण पाकर स्वामीजी २५ अगस्त शुक्रवार को एनिस्क्वाम पहुँचे। जैसे कि होता आया था, लोग उनकी आकर्षक वेशभूषा और तेजोमय व्यक्तित्व को देखकर चकित से रह गए।

क्षण भर में उनके आने की खबर उस छोटे से जनपद में फैल गई और लोग झुंड के झुंड उन्हें देखने के लिए आने लगे। थोड़ी ही देर में प्राध्यापक राइट का निवास लोगों से भर गया। वे उत्कंठित हो पूछने लगे· ये भव्य आकृतिवाले पुरुष कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ? किस देश के निवासी हैं ? उनकी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए प्रा० राइट ने उन सबको रात्रि में स्वामीजी का भाषण सुनने के लिए आमंत्रित किया।

रात्रि में भोजन के पश्चात् पूरा ग्राम उनका भाषण सुनने टूट पड़ा। स्वामीजी ने अपना परिचय देते हुए पुण्य भूमि भारत का वर्णन किया, उनकी पुरातन गौरवमयी संस्कृति का, उसकी उन्नत सभ्यता का और उनके सर्व कल्याणकारी तत्त्वज्ञान का बखान किया। उस समय एक अद्वितीय आभा उनके चेहरे पर खेल उठी थी। फिर उन्होंने बताया कि किस प्रकार सभ्यता और संस्कृति में अग्रणी इस देश में विनाश के काले बादल टूट पड़े। किस प्रकार हूण और मुगलों के आक्रमण देश में हुए और किस तरह उन्होंने देश को तहस नहस कर डाला। सबसे बाद में आये अंग्रेज जो इस देश के लिए सबसे बड़े अभिशाप सिद्ध हुए। उन्होंने इस सोने की चिड़िया को लूट लिया और यहाँ के निवासियों को दर दर का भिखारी बना दिया। अंग्रेजों

के प्रति आक्रोश से उनका हृदय जल उठा। मानो आग की चिनगारी उनकी वाणी से फूट निकली। वे कहने लगे, "यह तो कल की ही बात है, मात्र कल की। चार सौ वर्ष भी नहीं हुए। अंग्रेजों की बात में और क्या कहूँ। यही कुछ दिन पूर्व वे निरे जंगली थे। उनकी स्त्रियों के शरीर पर कीड़े बिलबिलाते थे और वे अपने शरीर की भयंकर दुर्गंध को ढकने के लिए इत्र का लेपन करती थी।... कैसी भयानक बात है! और आज भी वे बर्बरता से दूर हैं कहाँ?" श्रोताओं के बीच से कोई बोल उठा, "यह क्या बकवास है! वह तो कम से कम पाँच सौ साल पहले की बात होगी।" "क्या मैंने अभी यही बात नहीं कही कि यही कुछ दिन पूर्व?" मानव आत्मा के सुदीर्घ इतिहास की तुलना में भला ये कुछ सौ वर्ष क्या हैं? "उसका तीक्ष्ण स्वर मंद हुआ और वे धीमे प्रशांत स्वर में कहने लगे," वे निरे जंगली हैं। भयावह ठंड और उत्तरी शीत जल-वायु ने उन्हें खूंखार बना दिया है। वे केवल दूसरों की हत्या करना ही जानते हैं। कहाँ है उनका धर्म? वे मुँह से उस महापुरुष का नाम लेते हैं। वे दंभ भरते हैं कि वे मानव जाति से प्रेम करते हैं और सभ्यता का विस्तार करते हैं। तो क्या ईसाई धर्म के द्वारा? नहीं, उनके ईश्वर ने उन्हें सभ्य नहीं बनाया, यह तो

उनका अन्नाभाव था जिसने उन्हें सभ्य किया। ओठों से तो मानव के प्रति प्रेम प्रदर्शित करते है पर उनका हृदय शैतानियत और हैवानियत से भरा है। वे कहते हैं, 'मैं तुमसे प्यार करता हूँ, मेरे भाई; तुमसे प्यार करता हूँ,' पर हरदम उन्होंने गर्दन ही काटी है। उनके हाथ रक्त से सने हुए हैं।..." शनैः शनैः उनकी मधुर वाणी मंद पर तीक्ष्ण होती गई और अंत में प्रतीत होने लगा मानो घंटी निनादित हो रही हो। वे कहने लगे, "पर ईश्वर का न्याय उन पर अवश्य होगा। प्रभु ने कहा है, मैं प्रतिशोध लूँगा और प्रतिदान दूँगा।" और वह विनाशकाल आ रहा है। तुम्हारे ईसाई कितने हैं ? संसार के एक तिहाई भी नहीं। उन लक्ष–शत लक्ष चीनियों की ओर देखो। वे ही प्रभु के प्रतिशोध-स्वरूप तुम पर टूट पड़ेंगे। फिर से एक बार हूणों का आक्रमण होगा," किंचित् मुस्कराते हुए बोले, "वे पूरे योरोप को रौंद डालेंगे और ईंट से ईंट बजा देंगे। स्त्री, पुरुष और बच्चे सब खत्म हो जायेंगे और फिर से उस अँधेरे युग का प्रारंभ होगा।" उनकी वाणी अत्यंत उदास और करुणापूर्ण हो गई। फिर वे सहसा बोल पड़े, "मुझे अपनी कोई परवाह नहीं। उससे एक अच्छा संसार होगा। यह अवश्यंभावी है। ईश्वर का प्रतिशोध शीघ्र ही आ रहा हैं।" "शीघ्र ही !"

घबराई हुई आवाजें गूँज उठीं। "तो भी करीब हजार वर्ष लगेंगे।" सबने राहत की साँस ली कि वह भयावह क्षण अभी दूर है।

वे कहते रहे, "पर ईश्वर बदला लेंगे। भले ही इसे तुम धर्म में न देख पाओ, भले ही इसे राजनीति में न देख पाओ, पर इतिहास में तुम इसे अवश्य देख पाओगे। और जैसा कि होता आया है, यह होगा ही। यदि लोगों को तुम पीसोगे, तो इसका परिणाम तुम्हें भुगतना पड़ेगा। हम भारत में ईश्वर का अभिशाप भुगत रहे हैं। उधर दृष्टिपात करो। भारत में उन्होंने धन के लिये गरीबों को पीस डाला उन्होंने उनकी दर्द-भरी आवाजें नहीं सुनीं। वे सोने और चाँदी के बर्तनों में खाते रहे जबकि लोग रोटी के टुकड़ों के लिये चिल्लाते रहे। और ऐसे समय मे मुगल आये उन्हें मारते और काटते हुए। उन्होंने सारे देश को रौंद डाला। हिन्दुस्थान बार-बार विजित होता गया। अन्त में सबसे बड़ा दुर्भाग्य हुआ कि अंग्रेज आये। ...तुम भारत में देखो, हिन्दुओं ने क्या रख छोड़ा है?- अद्भुत मंदिर, हर जगह। मुसलमानों ने क्या छोड़ा? - वैभवयुक्त सुन्दर प्रासाद। पर अंग्रेजों ने क्या छोड़ रखा है? सिवाय मनों शराब की टूटी बोतलों के और कुछ नहीं। और ईश्वर ने मेरे लोगों

पर कोई दया नहीं दिखलायी क्योंकि उनमें खुद दया न थी। अपनी क्रूरता से उन्होंने जनता को कुचला था। और जब उन्हें जनता की सहायता की आवश्यकता पड़ी तब उनमें शक्ति ही शेष नहीं रह गई थी। भले ही मनुष्य भगवान के प्रतिशोध पर विश्वास न करे इतिहास के प्रतिशोध पर तो इसे विश्वास करना ही होगा। और यह प्रतिशोध होगा अंग्रेजों पर। उन्होंने अपने पैरों से हमारी गर्दन दबाई है। अपने सुख के लिए हमारे खून की अंतिम बूँद तक चूस डाली है। वे हमारी अपार धनराशि लूट कर ले जाते रहे, जब हमारे गाँवों और प्रदेशों में लोग भूख से तड़प–तड़प कर मरते रहे। अब चीनी उनके लिए अभिशाप होंगे। और अगर आज चीनी उठ खड़े हों तथा अंग्रेजों को पकड़ कर समुद्र में डुबो दें, जिसके कि वे लायक हैं, तो यह उचित न्याय ही होगा।"

इतना कहकर वे चुप हो गये। लोगों में कानाफूसी होने लगी। यह कैसी भविष्यवाणी है ? क्या यह सच होगी ? वह छोटा सा जनसमूह उनकी ओजपूर्ण वाणी सुनकर भयभीत हो गया था और उनकी ओर एकटक देख रहा था। पर उस ओर स्वामीजी का ध्यान नहीं था। उनके मुख पर अद्‌भुत गांभीर्य और शांति विराजमान थी। बीच बीच में उनकी आँखें छत को ताकने लगतीं और

ओठों से 'शिव' 'शिव' की गंभीर ध्वनि निकल पड़ती। सचमुच में उस दिन वे भविष्यद्रष्टा ही बन गये थे। काल की अनन्त परतें भेद कर भविष्य उनके सामने मूर्त हो उठा था। भगिनी क्रिस्टीन तथा अन्य दूसरों को यह कह कर उन्होंने चमत्कृत कर दिया था कि "इसके बाद जिस विराट अभ्युत्थान के फलस्वरूप नवयुग का सूत्रपात होगा उसका प्रवर्तन रूस अथवा चीन द्वारा होगा।" और एक बार उन्होंने कहा था, "अंग्रेजों के भारत छोड़कर चले जाने के बाद चीन द्वारा भारत पर आक्रमण होने की बड़ी आशंका है।"

एनिस्क्वाम में स्वामीजी सिर्फ तीन दिन रहे, २५ अगस्त से २८ अगस्त तक। इन तीन दिनों में उन्होंने सबका मन मोह लिया। प्रा० राइट और श्रीमती राइट तो उनके गुणों पर एक बारगी मुग्ध हो गए थे। दिन भर उनका वार्तालाप चलता रहता। धर्म, दर्शन, इतिहास और विज्ञान आदि अनेक विषयों पर चर्चा चलती और इन सभी विषयों पर स्वामीजी का अप्रतिम अधिकार देख वे विस्मय से चकित रह जाते। दिन बीतता रात आती, पर उनकी बातचीत का दौर समाप्त न होता था। दूसरा दिन पुनः नये विषयों की चर्चा से प्रारंभ होता। पर अधिकतर स्वामीजी की चर्चा का विषय होता था उनका अपना देश 'भारत'। वहाँ के

महापुरुषों की अद्‌भुत गाथाएँ, वहाँ की सभ्यता और संस्कृति के बारे में बोलते वे थकते न थे। १८५७ के भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम की सेनानी वीरांगना महारानी लक्ष्मीबाई के अनुपम शौर्य का वर्णन करते हुए उनका मुख बाल सुलभ गर्व से प्रदीप्त हो उठता। उस समय अंग्रेजों के द्वारा किए गए अत्याचारों का वर्णन करते हुए वे बारम्बार कह उठते, "पर ऐसा अत्याचार वे एक संन्यासी के साथ करने का साहस नहीं कर पायेंगे !" कई बार उन्होंनें इच्छा व्यक्त की थी कि अंग्रेज उन्हें पकड़ ले जायें और गोली से मार डालें। "तब तो वहीं से उनका विनाश प्रारंभ हो जायेगा और मेरी मृत्यु सारे देश में दावानल की भाँति फैल जावेगी।" स्वामीजी ने राइट महोदय को बताया था कि देश की पराधीनता का एकमात्र कारण उचित शिक्षा का अभाव है, अतः उसकी पूर्ति के लिए वे भारत में एक विद्यालय खोलना चाहते हैं जहाँ पूर्ण रूप से प्राच्य विधि से छात्रों को शिक्षित किया जा सके। प्राध्यापक राइट ने इसके लिए चंदा एकत्रित करने का निश्चय किया। रविवार को उनका व्याख्यान गिरजे में आयोजित किया गया जहाँ उन्होंने 'भारतीयों का जीवन और संस्कृति' विषय पर प्रकाश डाला। व्याख्यान के बाद भारत के इस प्रस्तावित विद्यालय के लिये कुछ चंदा भी एकत्रित किया गया।

स्वामीजी की प्रकांड विद्वत्ता और अप्रतिम ज्ञान को देख प्राध्यापक राइट ने उनसे आग्रह किया कि वे धर्म महासभा में अवश्य भाग लें। उन्होंने कहा कि इस विराट राष्ट्र के संमुख अपने आपको उपस्थित करने के लिए धर्म–महासभा एक अनुपम सुयोग है। स्वामीजी ने अपनी असमर्थता जताते हुए कहा कि उनके पास आवश्यक परिचय पत्र नहीं है और न इतना द्रव्य है कि शिकागो जा सकें। यह सुन राइट महोदय बोले, "स्वामीजी आपसे परिचय पत्र की माँग करना मानो सूर्य से उसके चमकने का अधिकार पूछना है।" उन्होंने बताया कि धर्मसभा के संयोजक से उसका परिचय है और वे उनके नाम पत्र लिख देंगे जिससे स्वामीजी वहाँ प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित हो सकै। स्वामीजी इस अप्रत्याशित घटना से चकित से रह गए। इसे उन्होंने प्रभु की ही कृपा मानी। प्रा० राइट ने धर्म–महासभा को प्रतिनिधि–निर्वाचक–समिति के सचिव को स्वामीजी का परिचय देते हुए लिखा, "ये ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी विद्वत्ता और ज्ञान की बराबरी हमारे विश्वविद्यालयों के समस्त प्राध्यापक एक साथ मिलकर भी नहीं कर सकते।" स्वामीजी के पास अर्थाभाव जानकर उन्होंने उनके लिए शिकागो तक का प्रथम श्रेणी का टिकट भी खरीद दिया।

सोमवार २८ अगस्त को स्वामीजी सालेम के लिए रवाना हुए। वहाँ उन्हें श्रीमती केटे टेन्नाट वुड्स ने आमंत्रित किया था। श्रीमती सैनबोर्न की तरह श्रीमती वुड्स भी सामाजिक कार्यकत्री, साहित्य-सेविका, और कुशल वक्ता थीं तथा उन्होंने अनेक पुस्तकों का प्रणयन भी किया था। उन्हें बच्चों से विशेष प्रेम था। उनकी कई पुस्तकें बच्चों के लिए लिखी गई थीं। उन्होंनें 'थाट एन्ड वर्क' क्लब की स्थापना की थी। इसी क्लब में व्याख्यान देने उन्होंने स्वामीजी को आमंत्रित किया। उस दिन सायंकाल स्वामीजी ने वहाँ 'भारत, उसका धर्म और जीवन' विषय पर गम्भीर व्याख्यान दिया। २९ अगस्त को सायंकाल वे वेसली प्रार्थनागृह में 'हिन्दू धर्म और हिन्दू प्रथा' विषयपर बोले। वैदिक धर्म की विशद व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि भारत में जाति–व्यवस्था एक सामाजिक–विभाजन है और वह धर्म पर किसी प्रकार आधारित नहीं है। भारत की गरीबी का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि भारत में धर्म का अभाव नहीं है, अभाव है खाद्यान्न का, अभाव है औद्योगिक शिक्षा का जो उन्हें स्वावलम्बी बना सके। वे इस आशा को लेकर इस देश में आये हैं कि वे अमरीकी जनता का ध्यान भारत के करोड़ों पीड़ित और सुशिक्षित लोगों की इस

महान आवश्यकता की ओर आकृष्ट कर सकेंगे। भारत में ईसाई मिशनरी के कार्यों का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया, "उनके सिद्धांत तो बड़े अच्छे हैं और वे धर्म की बड़ी सुन्दर बातें भी करते हैं पर वहाँ के लोगों की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए उन्हों ने कुछ भी नहीं किया है। अतः धर्म की शिक्षा के लिए मिशन–रियों को भेजने की बजाय यह अधिक उचित होगा कि ऐसे व्यक्ति भेजे जायँ जो औद्योगिक शिक्षा प्रदान कर सकें।"

ईसाई मिशनरी के कार्यों की तनिक सी सत्य आलोचना चर्च के पादरियों को चुभ गई और उन्होंने भाषण के दौरान अनेक आक्षेपपूर्ण प्रश्न पूछकर गतिरोध उत्पन्न करने की कोशिश की। उन्होंने भारत की सती प्रथा, मूर्तिपूजन और जगन्नाथ के रथ के नीचे होनेवाली आत्महत्याओं के बारे में लगातार प्रश्न पूछे। स्वामीजी ने बड़ी निर्भीकता से उन प्रश्नों का उत्तर दिया और तत्सम्बन्धी भ्रान्त धारणाओं का निराकरण किया। पर पादरी इससे संतुष्ट न हुए और उन्होंने वहीं उनकी और भारत की कटु आलोचना आरम्भ कर दी। पर स्वामीजी शांतिपूर्वक सुनते रहे। यह उनका पादरियों से पहला सामना था। बाद में उन्होंने ईसाई मिशनरियों द्वारा भारत में किये जानेवाले

कुचक्रों, बलात् धर्म परिवर्तन और उनके अत्याचारों का पर्दाफाश किया था जिससे ये पादरीगण उनके सबसे बड़े शत्रु हो गए थे और उनके विरुद्ध दुष्प्रचार करने में उन्होंने कोई कसर नही रखी थी।

दूसरे दिन अर्थात् २९ अगस्त को श्रीमती वुड्स ने अपने उद्यान में आयोजित बच्चों की सभा में स्वामीजी को आमंत्रित किया। वहाँ उन्होंने बच्चों के सामने भारतीय बालक–बालिकाओं के जीवन, रहन सहन, शिक्षा और खेलकूद के बारे में अत्यंत मनोरंजक और शिक्षाप्रद व्याख्यान दिया। ३ सितम्बर को ईस्ट चर्च में वक्तृता दी जिसका विषय था, "हिन्दू धर्म और दरिद्र स्वदेशवासी।" यहाँ पर भी उन्होंने अपना पूर्वोक्त कथन दुहराया कि भारत में धर्मप्रचार के लिए उपदेशक न भेज कर ऐसे शिक्षक भेजे जायँ जो उन्हें तकनीकी शिक्षा दे सकें।

स्वामीजी सालेम में सात रोज ठहरे। जन–मानस पर उनके भाषणों का गहरा प्रभाव पड़ा। सालेम के 'ईवनिंग न्यूज' नामक दैनिक पत्र ने लिखा था, "अन्य साधुओं की भाँति विवेकानन्द अपने देश में सत्य, पवित्रता और मानव-बन्धुत्व के धर्म का उपदेश करते हुए यात्रा अवश्य करते हैं किन्तु उनकी दृष्टि से कोई भी बड़ी अच्छाई अथवा बुराई छिप नहीं सकती।

वे अन्य धर्मों के व्यक्तियों के प्रति अत्यंत उदार हैं और अपने से मतभेद रखने वालों से प्रेमपूर्ण वाणी ही बोलते हैं।" श्रीमती वुड्स और उनके पुत्र प्रिंस उनके बड़े स्नेही हो गये थे। वहाँ से जाते समय स्वामीजी अपना कुछ सामान वहीं छोड़ गए। धर्ममहा-सभा के कुछ उपरान्त वे वहाँ दो बार आये थे। अंतिम बार बिदा लेते समय उन्होंने अपना दंड, जो परिव्राजक काल में सदैव उनके साथ रहा, प्रिंस को दिया और अपना ट्रंक तथा कंबल श्रीमती वुड्स को भेंट करके बोले, मैं अपनी सबसे कीमती वस्तुएँ अपने उन मित्रों को दे रहा हूँ जिन्होंने इस विशाल देश में मुझे गृह सुख का आनन्द दिया।" बाद में श्री प्रिंस की पत्नी ने वह ट्रंक और दंड रामकृष्ण मिशन को समर्पित कर दिया था। आज भी वह दंड स्वामीजी के बेलूर मठ के कक्ष में सुरक्षित है और उनके परिव्राजक जीवन की याद दिलाता है।

४ सितम्बर को बेंजामिन फ्रैंकलिन सैनबोर्न के निमंत्रण पर स्वामीजी साराटोना प्रिंस नामक स्थान में गए। श्री सैनबोर्न ने उन्हें 'अमेरिकन सोशियल-साइंस एसोसिएशन' के अधिवेशन मे भाग लेने आमंत्रित किया था। श्री सैनबोर्न उसके सचिव थे तथा देश के विद्वान साहित्यक, वैज्ञानिक तथा इतिहासकार

उसके सदस्य थे। स्वामीजी ने एसोसिएशन के सम्मुख तीन व्याख्यान दिये जिनमें से दो के विषय ज्ञात हैं :– 'भारत में मुगल राज्य' तथा 'भारत में चाँदी का व्यवहार'। इन लौकिक विषयों के बारे मे स्वामीजी का चूड़ान्त ज्ञान श्रोताओं के लिए विस्मयकारी था।

इस बीच स्वामीजी को धर्ममहासभा में प्रतिनिधि चुने जाने की सूचना प्राप्त हो गई थी। प्रा० राइट ने भी उनके पास सभा के आयोजकों के नाम पत्र भेज दिये थे। साराटोगा से संभवतः ७ या ८ सितम्बर को वे शिकागो के लिए रवाना हुए।

स्वामीजी किस प्रकार शिकागो पहुँचे परिचय पत्र खो जाने से क्या क्या कठिनाइयाँ हुईं, तथा किस प्रकार भटकते हुए वे श्री हेल के निवास स्थान तक पहुँचे थे. इसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है। उन्होंने अपनी यह सारी आपबीती श्री तथा श्रीमती हेल को बताई थी और वे अवाक हो मंत्रमुग्ध की नाई उनकी कहानी सुनते रहे थे।

(क्रमशः)

आशा और आत्मविश्वास ही वे वस्तुएँ हैं जो हमारी शक्ति को जागृत करती हैं और हमारी उत्पादन–शक्ति को दुगना–तिगुना बढ़ा देती हैं।

–स्वेट मार्डेन

श्री माँ सारदा : विविध प्रसंग

प्रव्राजिका भारतीप्राणा

[सन्यास के पहले लेखिका सरला के नाम से जानी जाती थीं। बहुत छोटी सी उम्र से उन्होंने श्री माँ के सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त किया था और श्री माँ के अन्तिम वर्षों में वे उनकी परिचारिका रहीं। निम्नलिखित उनके संस्मरण श्री माँ के मानवी पक्ष का सुन्दर उद्‌घाटन करते हैं। वर्तमान में लेखिका दक्षिणेश्वर स्थित सारदा मठ की प्रधान हैं। स्वामी विवेकानन्दजी की इच्छा को मूर्त रूप देते हुए, श्री माँ की शत वार्षिक जयन्ती के उपलक्ष्य में, महिलाओं के लिए सन् १९५४ ई० में इस मठ की स्थापना हुई थी।]

(१)

यह सन् १९१६ की बात है। तब जयरामबाटी में श्री माँ का नया घर बनकर पूरा हो गया था। वे वहाँ कुछ दिन रहने के बाद उद्‌बोधन लौट आईं। मैं उन दिनों श्रीरामकृष्णदेव के एक गृहस्थ-भक्त की बहिन वरेन की चाची के साथ ठहरी हुई थी। मैं चाची के साथ श्री माँ को प्रणाम करने के लिए गई। माँ ने हमारा कुशल-क्षेम पूछा और गाँव की बातें बताने लगीं। हम लोग सान्ध्य–आरती के बाद घर लौटीं।

कुछ दिनों के बाद मैं फिर श्री माँ का दर्शन करने के लिए गई। मेरे साथ चाची की दो बहुएँ भी थीं। श्री माँ उसी समय पूजा करके उठी थीं।

उन्होंने हमें प्रसाद दिया और हम लोगों के पास बैठ गईं। उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या तुम मेरे साथ कुछ दिन रह सकती हो ?" मैंने कहा, "हाँ माँ, मैं तुम्हारे साथ रहकर बहुत खुश होऊँगी। लेकिन मुझे चाची से अनुमति लेनी होगी।" माँ ने कहा, "हाँ बेटी, यही ठीक होगा। तुम उन्हीं के यहाँ ठहरी हो इसलिए तुम्हें उनसे पूछ लेना चाहिए।"

दूसरे दिन शाम को चाची मुझे लेकर श्री माँ के पास आईं और उन्होंने मुझे उनके पास रहने के लिए छोड़ दिया। इस बार मैं माँ के साथ तीन महीने रही। मैं मन्दिर में पूजा का कुछ कार्य करती थी। इसके सिवाय मैं श्री माँ की भतीजी राधू को कुछ कहानियाँ सुनाती थी। कभी-कभी मैं राधू और नलिनी (श्री माँ की एक और भतीजी) के साथ खेला भी करती थी। हम लोग अच्छी सहेलियाँ बन गई थीं।

सान्ध्य-आरती के बाद श्री माँ लेटकर विश्राम करतीं। मैं उनके पैरों तेल लगाती और उन्हें दबाया करती। प्रति सन्ध्या कुछ भक्त-शिष्य आ जाते और माँ को घेर कर बैठ जाया करते। हमारा समय बड़े आनन्द से व्यतीत होता। राधू माँ के पास ही बैठती थी और मुझे कहानियाँ सुनानी पड़तीं। माँ भी सुनतीं और छोटी

बालिका के समान आनन्दित होतीं। बहुधा श्रीराम-कृष्णदेव की महिला-भक्त योगीन-माँ आकर श्री माँ से दक्षिणेश्वर के दिनों की बातें किया करती थीं। माँ और योगीन-माँ में बड़ा प्रेममय सम्बन्ध था। हमें अनेक बार इसका पता चला।

उद्‌बोधन में श्री माँ ब्राह्ममुहूर्त में उठ जाया करती थीं। प्रातः काल, मध्याह्न और अपराह्न में वे भगवान की पूजा में लगी रहतीं। योगीन-माँ सान्ध्य-कालीन आरती करतीं और श्रीभगवान् को रात्रिकालीन नैवेद्य लगाकर मन्दिर का पट बंद कर देती थीं।

एक दिन सन्ध्याकालीन आरती के बाद मैं माँ के चरणों को दबा रही थी। योगीन-माँ फर्श पर चटाई बिछाकर लेटी थीं। कुछ देर बातचीत करने के बाद श्री माँ ने कहा, "यह मानव जीवन सचमुच बड़ा पुनीत है। ईश्वर को अन्तःकरण से पुकारो। बिना संघर्ष किए कुछ भी नहीं मिलता। पर भला कितने लोग भगवान् को पुकारते हैं ? बिना विपत्ति में पड़े कोई उनका नाम तक नहीं लेता। 'ग...' के जीवन को देखो। बहुत सी विपदाओं को सहने के बाद उसके हृदय में वैराग्य उपजा और तब उसने अपना मन भगवान् में लगाया। जब वह स्कूल में पढ़ती थी तब वह एक युवक से प्रेम करने लगी थी। दोनों एक साथ

रहने भी लगे थे। उसका एक पुत्र भी हुआ पर वह बाद में मर गया। यह उसके लिए एक बड़ा आघात था। फिर उस युवक ने उसके साथ इतना दुर्व्यवहार किया कि वह सह नहीं सकी और उसे छोड़कर चली आई। फिर वह अनेक तीर्थों में गई और उसने तपस्या की। वह बहुत सी भाषाएँ जानती है। दैवयोग से बलराम बाबू (श्रीरामकृष्णदेव के गृहस्थ भक्त) उससे मिले और उसे ठाकुर के पास दक्षिणेश्वर ले आए। उसने लड़कियों के लिए आश्रम खोला है।"

(२)

१९१८की जनवरी मे स्वामी सारदानन्द जी को जयरामबाटी से सूचना मिली कि माँ मलेरिया से पीड़ित हैं। मैं उस समय निवेदिता स्कूल में थी जिसे स्वामी विवेकानन्द जी की दो पश्चिमी शिष्याओं, भगिनी निवेदिता और सिस्टर क्रिस्टीन ने कलकत्ते में खोला था। सारदानन्दजी ने मुझे अपने साथ जयराम-बाटी चलने के लिये कहा। हम लोगों के साथ योगीन-माँ, गोपाल-माँ और दो डाक्टर भी थे। जब माँ की तबीयत कुछ ठीक हुई और दूसरे लोग कलकत्ता जाने लगे तब उन्होंने मुझसे वहाँ रुकने के लिए कहा। धीरे-धीरे उसका स्वास्थ्य सुधरने लगा। बीमारी की हालत में भी उन्हें कितनी तकलीफ नहीं उठानी पड़ी!

ऐसे तो जयरामबाटी में बहुत से लोग थे पर माँ स्वयं ही सारा काम किया करती थीं। यद्यपि हम लोग उनसे अनुरोध करतीं कि वे कोई काम न करें पर वे हमारी बात को अनसुनी कर देतीं, कहतीं, "तुम लोग इतना व्यस्त रहती हो पर मैं तो बिलकुल थोड़ा सा काम करती हूँ।"

देश के भिन्न-भिन्न भागों से स्त्री-पुरुष दीक्षा के लिए लगातार आ रहे थे। माँ स्वयं उसका सारा भार ले लेतीं। वे उनके रहने, खाने और अन्य सभी जरूरतों की व्यवस्था करतीं। उन्होंने किसी को निराश नहीं किया। वे कहती, ',अहा, मेरे बच्चों को बड़ी दूर से आना पड़ता है और यहाँ पहुँचने के लिये बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है।

एक दिन शाम को पूर्वी बंगाल से तीन स्त्रियाँ और तीन पुरुष वहाँ पहुँचे। वे दीक्षा ग्रहण करना चाहते थे। रसोई बनानेवाली छुट्टी पर थी। माँ उनके भोजन के विषय में चिन्तित हो उठीं। माकू (श्री माँ की भतीजी) और मैंने उसके लिये भोजन पकाया। इसपर माँ बड़ी प्रसन्न हुईं।

एक दिन राधू का स्वामी मन्मथ सुबह-सुबह वहाँ आया और कहने लगा, "हम पर बहुत बड़ा सकट आ पड़ा है। अगर हमने तीन-चार दिनों के भीतर

टैक्स नहीं पटाया तो हमारी सारी जायदाद की कुर्की हो जाएगी। आपको हमें दो सौ रुपये देने ही होंगे, नहीं तो हमारा सब-कुछ जाता रहेगा।" माँ ने उसकी बातें सुनीं पर वे इतने कम समय में इतने सारे रुपयों का इन्तजाम कैसे कर सकती थीं ? उनके पास जैसे ही कुछ पैसा आता वैसे ही वह चुक भी जाता था। माँ के पास बचत के नाम पर कुछ नही रहता था। पोस्टमैन समझता था कि वे बहुत धनी हैं क्योंकि उनके पास हमेशा मनीआर्डर आते रहते थे। पर कोई यह नहीं जानता था कि यह सारा भक्तों के लिए खर्च कर दिया जाता है। माँ को चिन्ताग्रस्त देखकर नलिनी ने सुझाया "काकी, तुम राधू के गहनों को गिरवी क्यों नहीं रख देतीं ? माँ को यह बात जम गई। उन्होंने कहा,— "नलिनी ठीक कहती है। मुझे ऐसा ही करना चाहिये।"

माँ पोस्टमैन योगीन्द्र के पास गईं। उन्होंने राधू के दो गहनों को रखते हुए दो सौ रुपये उधार माँगे। यह देखकर वह विस्मित हो उठा और बोला,— "यह सब क्या है, माँ ? तुम्हें मेरे पास उधार माँगने के लिए आना पड़ा है ? तुम्हें तो इतने मनीआर्डर मिलते रहते हैं और तुम इतना सा रुपया उधार ले रही हो ? "

मन्मथ रुपये पाकर चला गया। तब माँ

ने–कहा, "मैंने कैसे परिवार में राधू का विवाह होने दिया ! गोरदासी ठीक कहती थी। उसने कहा था कि मन्मथ के साथ विवाह करने पर राधू दुःख भोगेगी। यह सच ही हुआ। काली (श्री माँ के भाई) ने इस विवाह के लिए बहुत जिद की थी। अब मुझे लगता है कि राधू को भूखों मरना पड़ेगा।"

माँ ने मुझसे कहा कि मैं स्वामी सारदानन्दजी को मन्मथ का हाल-चाल लिखकर बता दूँ। उन्होंने कहा, "लिखकर पूछो कि क्या राम से मेरा पैसा आ गया है" (राम बलराम बाबू के पुत्र थे)। फिर मुझसे बोलीं, "तुम जानती हो, ठाकुर कितनी कठिनाई से देह की सुधि रख पाते थे ! वे सदैव भावमग्न और समाधिस्थ रहते थे। ऐसी मानसिक दशा में भला वे मुझसे कौन सी बात कर पाते ? पर वे मेरे कल्याण का कितना ख्याल रखते थे ! और यहाँ की तो चाल ही उलटी है। हर समय पैसे माँगना ! मन्मथ ने राधू के लिए कभी एक साड़ी भी नहीं खरीदी।

"जब मैं नौबतखाने में रहती थी तब एक दिन ठाकुर वहाँ आए। उन्होंने पूछा, 'तुम्हें हर महीने खर्च के लिए कितने रूपयों की जरूरत होगी ?' मैंने जब बताया कि पाँच–छः रुपयों में काम चल जाएगा, तब उन्होंने मेरे लिए छः सौ रुपये की व्यवस्था कर

दी ।" यह रुपया बलराम बाबू की जायदाद में लगा दिया गया था और माँ को हर महीने उसका छः रुपये ब्याज मिला करता था। माँ इसी ब्याज को अपना पैसा कहा करती थीं ।

माँ को जानें कितने प्रकार से अपने भाइयों और भतीजियों का भार वहन करना पड़ता था ! इसके अलावा भक्तों का आना-जाना लगा ही रहता था और माँ हमेशा व्यस्त रहती थीं ।

(३)

एक बार जब माँ कोआलपाड़ा में रुग्ण थीं तब उनकी इच्छा के विपरीत राधू अपने पति के घर चली गई । इससे माँ को दुःख पहुँचा । उन्होंने योगीन-माँ से कहा, "देखो तो योगीन, मुझे राधू ऐसी दशा में छोड़कर चली गई ।"

योगीन-माँ ने उत्तर दिया, "पर उसे क्यों न जाना चाहिए, माँ ? वह अब सयानी और जवान हो गई है । तुम सोचो तो कि तुम उसी की आयु में कैसे श्रीरामकृष्णदेव को देखने के लिए सारा रास्ता पैदल चलकर दक्षिणेश्वर पहुँची थीं ।"

माँ मुस्काईं और बोलीं, "हाँ योगीन, तुम ठीक कहती हो ।"

बाद में मुझे माँ ने बताया, "जब राधू मेरी ममता को ठुकराकर यहाँ से चली गई तब मैंने सोचा सम्भवत: ठाकुर मुझे यहाँ और अधिक नहीं रखेंगे । पर अब मैं समझती हूँ कि अभी मुझे उनका बहुत सा काम करना बाकी है ।"

जब स्वामी सारदानन्दजी माँ को कलकत्ते ले जाने की व्यवस्था कर रहे थे तब माँ ने योगीन–माँ से कहा, "हम पहले जयरामबाटी जाकर राधू को यहाँ ले आएँ और फिर कलकत्ते के लिए रवाना हों ।"

एक–दो दिन के भीतर ही हम लोग जयराम–बाटी पहुँच गईं । राधू अपने पति के घर से आई । माँ ने उससे पूछा, "क्या तुम हम लोगों के साथ कलकत्ता नहीं जाओगी ?"

राधू ने जवाब दिया, "तुम लोग कलकत्ता चली जाओ । मैं अभी वहाँ नहीं जाऊँगी ।"

तब माँ ने हम लोगों से कहा, "जब वह जाना ही नहीं चाहती तो मैं क्या कर सकती हूँ ? उसे पति के साथ ही रहने देना चाहिए ।"

हम लोग कलकत्ता के लिए रवाना हुईं । माँ पालकी में थीं और हम लोग बैलगाड़ी में जा रही थीं । कोआलपाड़ा में हम लोग एक दिन के लिए रुके । स्वामी सारदानन्दजी ने एक आदमी को बग्घी भाड़ा

कर लाने को बाँकुड़ा भेजा। तीस रुपये भाड़े पर दो गाड़ियाँ आईं। एक बग्घी में माँ के लिए दोनों बग्घियों के बीच की जगह में पेटियाँ रख दी गईं और उस पर गद्दा बिछा दिया गया क्योंकि माँ का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। जब उन्होंने देखा कि बग्घी के भीतर की गद्दी को आराम कुर्सी के समान बना दिया गया है तब वे बोलीं, "अहा! शरत् ने कितना सुन्दर इन्तजाम किया है।"

हम लोग जिस रास्ते से जा रहीं थीं उधर उस समय बग्घी बहुत कम चला करती थीं। बग्घी की आवाज सुनकर लोग रास्ते के किनारे खड़े होकर देखने लगते थे।

दिन के ग्यारह बजे हम लोग विष्णुपुर पहुँचे। वहाँ श्री माँ के भक्त सुरेश्वर का घर था। उनका मकान एक गली में था। घर के दरवाजे से लेकर सड़क तक सारी गली केले के पेड़ों की कतारों और आम की पत्तियों के तोरणों से सजी हुई थी। रास्ते में रंगोली बनाई गई थी। गली के दोनों ओर भक्त खड़े थे। और बड़ी व्याकुलता से माँ के बग्घी से उतरने की प्रतीक्षा कर रहे थे। सारा वातावरण दुर्गा–पूजा के समान हो गया था और ऐसा प्रतीत होता था मानो आज जगदम्बा की प्रतिमा को स्थापित किया जा रहा है।

माँ बग्घी से उतरकर पालकी में बैठीं। सुरेश्वर सेन और तीन अन्य भक्तों ने पालकी अपने कन्धों पर उठाई और घर के भीतर ले चले। माँ को उनके ठहरने के कमरे में ले जाया गया। वहाँ उन्होंने ठाकुर के चित्रपट को सजाया, पूजा की और भोग लगाया।

दूसरे दिन ग्यारह बजे हम रेलगाड़ी से कलकत्ते के लिए रवाना हुए। रास्ते में गड़बेता नामक स्टेशन पर गाड़ी रुकी। वहाँ आश्रम के बहुत से भक्त श्री माँ के दर्शन करने लिए आए थे। उन्होंने माँ को प्रणाम किया और खजूर की पिटारी भेंट में दी। काफी शाम को हम हावड़ा पहुँचे।

दूसरे दिन सबेरे मुझे श्री माँ से भगिनी सुधीरा से मिलने के लिए निवेदिता स्कूल जाने की अनुमति मिल गई। कुछ दिन पहले ही भगिनी सुधीरा के भाई स्वामी प्रज्ञानानन्द (श्री माँ के शिष्य) ने देह-त्याग किया था। माँ को इसका बड़ा दुःख था। उन्होंने मुझसे कहा, "सुधीरा से कहना कि वह यहाँ आकर मुझसे मिले।"

जब सुधीरा वहाँ आई तब माँ ने स्वामी प्रज्ञानानन्द के देहवासान पर दुःख प्रकट किया। उन्होंने कहा, "हाय, कैसा भाई चला गया! योगी भाई चला गया!!" माँ रोने लगीं।

पर भगिनी सुधीरा शान्त रहीं। उन्होंने सहज भाव से कहा, "माँ, तुम कहो कि तुम अच्छी हो जाओगी।"

माँ बोलीं, "हाँ बेटी, मैं अच्छी हो जाऊँगी।"

इस पर भगिनी सुधीरा ने कहा, "तब तो मुझे आनन्द ही आनन्द है।"

क्रमशः माँ स्वस्थ होती गई। भक्तों की भीड़ पुनः उनके दर्शनों पर उमड़ पड़ी। जून के अन्त में उन्होंने पुनः दीक्षा देना प्रारम्भ कर दिया।

१९१७ की गर्मी में श्रद्धेय 'म' महाशय ने मुझे श्रीरामकृष्ण वचनामृत का एक भाग देते हुए कहा कि अगर वह मुझे अच्छा लगेगा तो वे शेष तीनों भाग भी मुझे दे देंगे। इसका संकलन उन्होंने ही किया था। बाद में उन्होंने शेष तीनों भाग भी मुझे दे दिये। जब माँ को इसका पता चला तब उन्होंने कहा, "मास्टर सरला से बहुत स्नेह करते हैं। उन्होंने वचनामृत भेंट करके कितना अच्छा किया! अच्छा सरला, तुम मुझे यह पढ़कर सुनाना तो।"

मैं माँ को वचनामृत पढ़कर सुनाने लगी। वे एकाग्र मन से सुनतीं और पुरानी बातों को याद करतीं। वे दक्षिणेश्वर के दिनों की चर्चा करतीं और कहतीं, "ये लड़के कितने बुद्धिमान हैं उन्होंनें तो सब-कुछ

शब्दशः उतार लिया है। ठाकुर ठीक ऐसा ही कहा करते थे। यह कितनी अच्छी बात है कि उनके वचन आज छप गए हैं। कितने लोग उनके उपदेशों को पढ़ेंगे ! मैं भी उनकी बातों को सुना करती थी। अगर मैं जानती कि एक दिन ये छप जाएँगी तो मैं भी उन्हें लिख रखती। पर किसने सोचा था कि यह सब हो जाएगा !"

(४)

एक दिन श्री माँ के गृही-भक्त ललित बाबू ने उन्हें थियेटर ले जाने की इच्छा प्रकट की। माँ ने हामी भर दी। नलिनी, माकू और अन्य लोग भी जाने के लिए तैयार हो गये। ललित बाबू मिनर्वा थियेटर के मैनेजर अपरेश के घनिष्ठ मित्र थे। थियेटर में माँ के साथ नलिनी, माकू, राधू, मन्मथ, योगीन-माँ तथा अन्य सन्यासियों और ब्रह्मचारियों के लिए जगह की व्यवस्था कर दी गई। मैं भी उनके साथ थी।

नाटक आचार्य रामानुज के जीवन पर आधारित था। अपरेश ने मां, योगीन-माँ और गोलाप-माँ को सामने की कुर्सियों में बिठा दिया। माँ ने बड़े आनन्द से वह नाटक देखा। एक दृश्य में रामानुज को दीक्षा-ग्रहण करते हुए बताया जा रहा था। उनके गुरु ने उनकी परीक्षा लेते हुए कहा, "तुम इस मंत्र को

मत बताना। अगर तुमने ऐसा किया तो भगवान् के पुनीत नाम को जो भी सुनेगा वह मुक्त हो जाएगा पर तुम्हें नरक भोगना पड़ेगा।" रामानुज महात्मा थे। वे मनुष्य मात्र का कल्याण करना चाहते थे। उन्होंने अपने चारों ओर लोगों की भारी भीड़ इकट्ठी कर ली और जोरों से पुनीत मंत्र का उच्चारण करने लगे ताकि प्रत्येक व्यक्ति उसे सुन सके। माँ इस दृश्यको देखते-देखते समाधिस्थ हो गईं।

एक सुन्दरी अभिनेत्री तारा ने रामानुज का अभिनय किया था (उस समय बंगाल में लड़कियों के द्वारा किशोरों का अभिनय करने की परम्परा थी)। नाटक समाप्त होने पर तारा माँ को प्रणाम करने के लिए पहुँची। पर माँ तब समाधिस्थ थी। गोलाप-माँ ने उनके मन को प्रकृतिस्थ करने का प्रयास किया। जब माँ की चेतना कुछ बहिर्मुखी हुई तब तारा ने उनके चरणों का स्पर्श करते हुए प्रणाम किया। माँ ने उसे हृदय से लगा लिया और आशीर्वाद दिया। गोलाप-माँ, कह उठीं, "अहा! तारा का भाग्य कितना महान है! तारा कितनी भाग्यवती है!!"

नाटक के विसर्जित होने पर सभी अभिनेताओं ने माँ को प्रणाम किया। उन्होंने सबको आशीर्वाद दिया। इस घटना के बाद तारा बहुधा माँ का दर्शन

करने के लिए उद्‌बोधन आने लगी ।

इसके बाद एक दिन ललित बाबू माँ को सर्कस दिखाने के लिए मैदान ले गये। माँ तरह-तरह के खेलों को देखकर छोटी बच्ची के समान हर्षित हो उठीं। रात को नौ बजे खेल समाप्त हुआ। रात अधिक बीत जाने के कारण कोई बग्घी नहीं मिली। ललित बाबू ने टैक्सी तय करना चाहा पर माँ टैक्सी पर चढ़ने के लिए राजी नही हुईं। एक बार माँ जिस टैक्सी में बैठी थीं उसके पहिए से एक कुत्ता कुचल गया था। उस घटना के बाद वे कभी भी टैक्सी में नहीं बैठीं। ललित बाबू ने उनसे अधुरोध करते हुए कहा, " माँ, कोई बग्घी नहीं मिल रही है। मैं टैक्सी ड्राइवर को बहुत सावधानी से चलाने की ताकीद कर दूँगा।" पर माँ राजी नही हुईं। उन्होंने कहा, " जाओ, खोजो, अबकी बार तुम्हें कोई न कोई बग्घी जरूर मिलेगी।" ललित बाबू बग्घी देखने निकले और इस समय उन्हें एक बग्घी मिल गई। हम सब मिलकर बग्घी में बैठकर उद्‌बोधन आ गईं।

(५)

राधू गर्भवती हो गई थी। तीन-चार महीने के गर्भ-धारण के बाद ही उसका मानसिक संतुलन बिगड़ गया। वह अकेले रहना चाहती थी और किसी

भी प्रकार की आवाज को नहीं सह पाती थी। वह माँ के मायके लौटने के लिये बहुत आतुर थी पर मा उसे ऐसी असन्तुलित मानसिक दशा में जयरामबाटी नहीं ले जाना चाहती थीं। फिर यह निश्चित किया गया कि माँ और राधू बेलुड़ मठ के पास किराये के मकान में रहें। पर माँ ने मुझसे पूछा, "क्या हम लोग तुम्हारे स्कूल में नहीं रह सकतीं?" मैंने कहा, "मैं भगिनी सुधीरा से पूछकर आपको बताऊँगी।"

पहले तो सुधीरा ने आनाकानी की। उस समय छात्रावास ५०, बोसपाड़ा लेन में था। वह बहुत छोटा था और वहाँ तीस लड़कियाँ रहा करती थीं। इसके बावजूद भी भगिनी सुधीरा ने माँ और उसके साथ के लोगों के रहने की व्यवस्था स्कूल में कर दी। हम लोग कितने खुश थे! जैसे ही माँ वहाँ पहुँचीं, उन्होंने कहा, "मैं यहाँ आकर बहुत प्रसन्न हूँ।" माँ हमेशा निवेदिता स्कूल को चाहती थीं और वहाँ रहने वाली लड़कियों से स्नेह करती थीं।

छात्रावास में माँ बहुत प्रसन्न थीं। अपराह्न में योगीन–माँ और गोलाप-माँ उन्हें देखने के लिए आ जातीं और उनका हाल–चाल पूछ जातीं। एक दिन अपराह्न में योगीन–माँ ने कहा, " माँ, 'क' तुम पर बहुत नाराज है क्योंकि तुम यहाँ आ गई हो। 'क' का

कहना है कि माँ को निवेदिता स्कूल में क्यों रहना था ? क्या उनके लिए और कोई भी स्थान नहीं था ? वे मठ में क्यों नहीं चली गईं ? और न जाने कितनी बातें उसने कही ।" माँ ने सारी बातें सुनी और बोलीं, " 'क' को मुझ पर गुस्सा क्यों करना चाहिए ? सुधीरा तो मेरी बेटी है और मैं उसके साथ रहने के लिए आई हूँ । इस पर 'क' को ईर्ष्या करना ठीक नहीं है ।"

कुछ दिनों के बाद राधू माँ से जयरामबाटी चलने के लिए जिद करने लगी । माँ उसे किसी भी प्रकार समझा नहीं सकी । अन्त में उन्होंने राधू से कहा, "अच्छा, मैं तुझे जयरामबाटी ले जाऊँगी ।" फिर वे हम लोगों से बोलीं, "बेटी, भला मैं क्या कर सकती हूँ ? वह तो मुझे यहाँ रहने देना ही नहीं चाहती ।"

छात्रावास के पास ही लाख की छड़ बनाने का एक कारखाना था । हर दिन सुबह हमें कारखाने की आवाज सुनाई पड़ती और आवाज सुनकर राधू अधिकाधिक उद्विग्न हो जाती । यह देखकर माँ उसे उद्-बोधन ले गईं । वहाँ उन्होंने स्वामी सारदानन्दजी से जयरामबाटी लौटने की व्यवस्था करने के लिए कहा । माँ चाहती थीं कि मैं भी उनके साथ चलूँ । पर भगिनी सुधीरा ने उनसे कहा, "राधू के प्रसव में अभी

देर है। प्रसव के कुछ दिन पहले सरला वहाँ पहुँच जाएगी।" माँ बिना किसी विशेष सूचना के चुपचाप जयरामबाटी चली गईं। भक्तों को उन्हें प्रणाम करने का अवसर तक नहीं मिला और वे उदास हो गए।

माँ और उसका दल जयरामबाटी नहीं पहुँच सका। जब वे कोआलपाड़ा पहुँचीं तो राधू ने वहाँ से आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। इसलिए माँ को अन्य स्त्रियों के साथ वहीं जगदम्बा आश्रम में रुकना पड़ा। राधू आश्रम में रहने के लिए राजी नहीं हुई। वह स्वामी केशवानन्द के गोशाले में रहने चली गई जो बड़ी सुनसान जगह थी।

गाँव के लिए माँ के रवाना होने के कुछ दिन बाद यह निश्चय किया गया कि बनारस सेवाश्रम के स्त्री-मरीजों के वार्ड के लिए स्त्री-परिचारिकाओं को नियुक्त करना चाहिए। इसलिए सुधीरा मुझे स्त्रियों के वार्ड का दायित्व सौंपने के लिए बनारस ले गईं। फिर श्री माँ का एक आवश्यक पत्र आ पहुँचा। उन्होंने कोआलपाड़ा से लिखा था, "सरला को यथाशीघ्र यहाँ भेज दो"।

बनारस से रवाना होने के पहले मैं स्वामी तुरीयानन्दजी को प्रणाम करने गई (वे श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी-शिष्य थे)। जब उन्होंने सुना कि मैं राधू की

देखभाल के लिए कोआलपाड़ा जा रही हूँ तो उन्होंने कहा, "अहा, यह कितना अच्छा है कि तुम माँ के पास जा रही हो। बहुत अच्छा! बहुत अच्छा! मनुष्य जाति के कल्याण के लिए कितनी महान् शक्ति जीवित है! जहाँ हम लोग अपने मन को यहाँ (गले को बताते हुए) उठा लाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं वहाँ वे अपने मन को बलपूर्वक उतार लाने के लिए सोचती हैं-राधू, राधू, राधू'।" फिर उन्होंने कहा, "इसे समझने की चेष्टा करो ...। जय हो माँ! शक्तिमयी, तुम्हारी जय हो!" ऐसा कहते हुए उन्होंने श्री माँ को बार-बार स्मरण करते हुए प्रणाम किया।

कलकत्ता पहुँचते ही मैं स्वामी सारदानन्दजी से मिली। उन्होंने मुझे ले जाने के लिए सभी जरूरी चीजों के साथ माँ के लिए फल और मिठाइयाँ भी दीं। निवेदिता स्कूल में एक भूटानी लड़की रुकी हुई थी। वह हिमालय के गारबुंग नामक गाँव से आई थी जो कैलाश के मार्ग में है। स्वामी सारदानन्दजी ने मुझसे कहा, "इस लड़की का नाम रूमा देवी है। यह तुम्हारे साथ जाएगी। माँ से पूछना कि क्या वे इसे दीक्षा देंगी। यह बहुत दूर से आई है।"

जब हम लोग कोआलपाड़ा पहुँची तब माँ हमें देखकर प्रसन्न हुईं। हमारा प्रणाम ग्रहण करने के बाद

उन्होंने रूमा को देखकर पूछा, "यह लड़की कौन है ?" तब मैंने उन्हें स्वामी सारदानन्दजी का संदेश बताया। माँ ने कुछ दिनों में उसे दीक्षा देना स्वीकार कर लिया।

रूमा ने स्वप्न में एक मंत्र प्राप्त किया था और माँ ने (उन्हें इसका पता नहीं था) दीक्षा के समय उसे वही मंत्र प्रदान किया। बाद में रूमा एक अनिवर्चनीय आनन्द का अनुभव करने लगी। माँ ने बताया, "वह बहुत बुद्धिमती लड़की है। वह तत्काल समझ जाती है। ठाकुर की लीला को तो देखो ! कैलाश पर्वत कहाँ है और कोआलपाड़ा कहाँ ?" वे हाथ जोड़ कर बार-बार ठाकुर को प्रणाम करने लगीं। जब रूमा जाने लगी तब बिदा लेते समय वह फफककर रो पड़ी। माँ ने उसे आशीर्वाद प्रदान किया।

उसी समय माकू की बच्ची जयरामबाटी में डिप्थीरिया से मर गई। जब माँ ने यह खबर सुनी तो वह रोने लगीं। वे अन्य मनुष्यों के समान ही बिलख रही थीं पर जैसे ही उन्हें पता चला कि रात काफी बीत चुकी है और भगवान् की पूजा अब तक नहीं हो पाई है और हमने तथा अन्य भक्तों ने भोजन नहीं किया है तो वे सबको विस्मित करती हुई उठ खड़ी हुईं। उन्होंने अपने मुख को धो लिया और बोलीं,

"चलो, ठाकुर को भोग लगा दें। फिर तुम लोग आकर प्रसाद ग्रहण करो।" उस समय ऐसा लग रहा था कि कि दुःख के सभी कारण विलीन हो गए हैं।

यद्यपि हम लोग राधू के बारे में चिन्तित थे पर माँ के साथ हमारे दिन आनन्द से व्यतीत हो रहे थे। थोड़े ही दिनों में राधू ने पुत्र को जन्म दिया। माँ की कृपा से सब कुछ कुशलता से सम्पन्न हो गया।

कोआलपाड़ा में मेरा और कोई काम नहीं था और कलकत्ता के स्कूल में बहुत सा काम अधूरा पड़ा हुआ था। भगिनी सुधीरा चाहती थी कि मैं यथाशीघ्र वापस लौट आऊँ पर माँ मुझे जाने देना नहीं चाहती थीं। जब उन्हें मालूम हुआ कि स्कूल में मेरी आवश्यकता है तब उन्होंने मुझे नहीं रोका। मैंने कामारपुकुर नहीं देखा था। इसलिए श्री माँ ने एक ब्रह्मचारी के साथ मुझे ठाकुर की जन्मभूमि को देखने के लिए भेज दिया। इसी समय स्वामी शान्तानन्द और स्वामी हरानन्द माँ का दर्शन करने के लिए वहाँ आये थे। माँ ने उन्हीं के साथ मुझे कलकत्ता भेजने की व्यवस्था कर दी। मैं माँ को छोड़ते हुए बहुत दुखी थी और वे भी रो रही थीं। जब हम प्रणाम करके रवाना हुए, वे लगातार तब तक हमारी ओर देखती रहीं जब तक हमारी गाड़ी उनकी दृष्टि से ओझल न हो गई।

(६)

१९२० की फरवरी में स्वामी सारदानन्द माँ को उद्बोधन ले आए। माँ का स्वास्थ्य गिर चुका था। वे कमजोर हो गई थीं। हम लोग स्कूल से उनका दर्शन करने के लिए आईं। सारदानन्दजी ने उनकी चिकित्सा का पूरा प्रबन्ध कर दिया था और मुझे बुलाया था। उन्होंने मुझसे कहा, "यहाँ रहकर माँ की देखभाल करो।" इस प्रकार मैं फिर माँ की परि-चर्या के लिए उद्बोधन आ गई। मैं दुखी भी थी और सुखी भी। सुखी इसलिए क्योंकि मुझे माँ के साथ रहने का अवसर मिला था और दुखी इसलिए क्योंकि वे बीमार थीं। किसी प्रकार का इलाज कारगर नहीं हो रहा था।

धीरे-धीरे यह स्पष्ट होने लगा कि माँ अपनी भतीजियों के प्रति पूरी तरह से उदासीन हो गई हैं। इससे सभी लोग चिन्तित हो उठे। उनकी बीमारी बढ़ती ही गई। उन्हें सारा शरीर हर समय जलता सा प्रतीत होता था। भगिनी सुधीरा छात्रावास से लड़-कियों को बारी-बारी से माँ को पंखा करने के लिए भेजती रहीं।

जयरामबाटी में माँ के घर में एक नया कुँआ खुदकर तैयार हो गया था और हरिप्रेम महाराज एक

शीशी में उसका जल लेते आए थे। माँ ने थोड़ा सा जल पिया और प्रसन्न हुईं। जब उन्होंने सुना कि किशोरी महाराज जयरामबाटी में उनके कमरे के फर्श को पक्का करा रहे हैं तब उन्होंने कहा, "क्या मैं वहाँ फिर कभी जा पाऊँगी ?"

सभी बातों में माँ एक छोटी बच्ची के समान प्रतीत होने लगी थीं। वे हमेशा कहती रहतीं, "मुझे जाने दो, मुझे जाने दो !" एक दिन उन्होंने मुझसे कहा, "बेटी, अब मुझे जाने दो !" ललित बाबू माँ के समीप ही खड़े थे। माँ ने उनसे भी कहा, "ललित, मुझे अब जाने दो !"

ललित बाबू बोले, "माँ, तुम हमेशा यही कह रही हो कि तुम हमें छोड़ना चाहती हो। क्या हम तुम्हें कष्ट दे रहे हैं ?"

माँ ने कहा, "नहीं, बेटा, तुम लोग कष्ट नहीं दे रहे हो। पर ठाकुर का कार्य जो होना था वह पूरा हो गया। फिर मैं क्यों रुकूँ ?"

ललित बाबू रोने लगे और बोले, "माँ ! अगर तुम हमें छोड़ दोगी तो हम कैसे जिएँगे ?"

माँ ने कहा, "बेटा ! तुम क्यों डरते हो ? ठाकुर जीवित हैं !"

जब अन्त में माँ ने स्वामी सारदानन्दजी को

बुलाया और उनसे कहा, "शरत् ! मैं जा रही हूँ। योगीन, गोलाप और ये सब बच्चे यहाँ हैं। इनकी देखभाल करना।"– तब हमने जाना कि सुख के दिन अब बीत गए हैं।

–'वेदान्त एंड दि वेस्ट' से साभार।

●

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तमन्यो भवेत ॥

ओंकार ही धनुष है, आत्मा ही बाण है और परब्रह्म परमेश्वर ही उसका लक्ष्य कहा जाता है। वह प्रमादरहित मनुष्य द्वारा ही बींधा जाने योग्य है। अतः उसे बेधकर बाण की भाँति उस लक्ष्य में तन्मय हो जाना चाहिये।

—महर्षि अंगिरा।

प्रश्न – धन ही समस्त बुराइयों की जड़ है। अतः उसे पाप के फलस्वरूप मिला कहें अथवा पुण्य के फलस्वरूप ?

—शान्ता नारवानी, बम्बई

उत्तर – बड़ा अच्छा प्रश्न पूछा आपने। मेरा व्यक्तिगत मत यह है कि धन पाप के फलस्वरूप मिलता है। धन मिलने का अर्थ है किसी के पास अतिरिक्त धन का होना। ईमानदारी से कमाया धन इस कोटि में नहीं आता। मनुष्य ईमानदारी से इतना नहीं कमा सकता कि वह दो-तीन पीढ़ियों तक काम आये। जहाँ भी हमें धन का वैभव देखने को मिलता है, वह पाप के ही फलस्वरूप है ऐसी मेरी मान्यता है। इसीलिए ऐसा धनी व्यक्ति तरह-तरह की बुराइयों का शिकार हो जाता है। वे लोग अत्यन्त बिरले हैं जो धनी भी हैं और साथ ही विवेकी भी। यह भगवान् की उनपर कृपा है। वे अपवाद हैं।

* * *

प्रश्न – मैं स्वामी विवेकानन्द जी की पुस्तक 'राजयोग' से बड़ा प्रभावित हूँ। क्या उस ग्रन्थ के सहारे राजयोग

की साधना का अभ्यास नहीं किया जा सकता ?

—नलिनीकान्त श्रीवास्तव, इलाहाबाद

उत्तर – राजयोग की साधना पुस्तक के आधार पर करना उचित नहीं है। आपने स्वामी विवेकानन्द कृत 'राजयोग' की भूमिका में पढ़ा होगा कि स्वामीजी ने स्वयं चेतावनी दी है कि बिना योग्य पथप्रदर्शक के राजयोग की साधना खतरे से खाली नहीं है। उक्त साधना में ऐसी कई सूक्ष्मताएँ हैं जो बिना गुरु के समझ में नहीं आतीं।

* * *

प्रश्न – क्या वेदान्त अवतार को मानता है ?

—श्रीकान्त झा, पटना

उत्तर – नहीं, अवतार की कल्पना भक्तियुग की देन है।

* * *

प्रश्न – क्या पुराणों की कहानियाँ सत्य घटनाओं पर आधारित हैं ?

—राधेश्याम व्यास, अहमदाबाद

उत्तर – पुराणों को ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में नहीं लिया जा सकता। उनमें की अधिकांश कहानियाँ मनगढ़न्त हैं। भले ही पुराणों में वर्णित कतिपय घटनाएँ ऐतिहासिक हो, पर कल्पना और इतिहास का ऐसा मेल उनमें हुआ है कि दोनों को अलग करना कठिन काम है। पुराण-युग में रूपकों के सहारे तत्वों को समझाने की प्रथा प्रचलित थी। इसीलिए हम पुराणों में कई सुन्दर रूपक पाते हैं।

आश्रम समाचार

(१ सितम्बर से ३० नवम्बर तक)

साप्ताहिक सत्संग

इस अवधि में आश्रम का रविवासरीय सत्संग अखण्ड रूप से चलता रहा। स्वामी आत्मानन्द के गीता पर प्रवचन अधिकाधिक लोकप्रिय हुए। ३, १० सितम्बर, १, ८, १५, २२ अक्तूबर, ५, १२ नवम्बर, इन आठ रविवारों को मिलाकर स्वामीजी ने अब तक गीता पर १७ प्रवचन दिये हैं। बीच में ५ रविवारों में अर्थात् १७, २४ सितम्बर, २२ अक्तूबर, १९, २६ नवम्बर को रामायण पर श्री प्रेमचन्द जी जैन की सरस कथा हुई। दिन अब छोटे होने के कारण १९ नवम्बर को सत्संग ५ बजे सन्ध्या प्रारम्भ होता है।

स्वामी आत्मानन्द के अन्यत्र कार्यक्रम

स्वामीजी को इस अवधि में व्याख्यानों के लिए दूर-दूर तक जाना पड़ा। ५ सितम्बर को रायपुर के इंजीनियरिंग कालेज में शिक्षकों की ओर से 'शिक्षक दिवस' मनाया गया जिसकी अध्यक्षता कालेज के प्राचार्य श्री सर्वटे ने की। आत्मानन्दजी ने मुख्य अतिथि के रूप से उद्बोधन करते हुए शिक्षक और गुरु इन दो पाश्चात्य और प्राच्य धारणाओं का पार्थक्य स्पष्ट किया और कहा, जबकि पश्चिम का शिक्षक लौकिक शिक्षा प्रदान करता है, पूर्व यानी भारत का गुरु लौकिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शिक्षाएं देता है।

१० सितम्बर का स्वामीजी बिलहा में 'कर्मरहस्य' पर बोले। ११ सितम्बर को ३ बजे दिन को गौरेला में तुलसी

समाज के तत्वावधान में उन्होंने 'वर्तमान समस्याएँ' विषय पर विचार करते हुए उनके निदान के उपाय बतलाए। उसी दिन रात्रि पेण्ड्रा में बृहत् जनसमुदाय को उन्होंने 'स्वामी विवेकानन्द का राष्ट्रयोग' विषय पर सम्बोधित किया। यह कार्यक्रम डा० प्रणवकुमार बनर्जी के द्वारा आयोजित हुआ था। १२ सितम्बर को म. प्र. विद्युत प्रमंडल कर्मचारी संघ, चिरमिरी द्वारा आयोजित गणेशोत्सव के तत्वावधान में स्वामीजी ने 'धर्म का स्वरूप' विषय पर चर्चा की।

२१ और २२ सितम्बर को इन्दौर में रामकृष्ण आश्रम के तत्वावधान में उन्होंने 'विज्ञान के सन्दर्भ में ध्यान योग' और 'भक्ति का सहजयोग' इन दो विषयों पर मनोमुग्धकारी प्रवचन दिया। २३ सितम्बर को आश्रम में जिज्ञासुओं के प्रश्नों के उत्तर दिये।

२४ सितम्बर को इन्दौर के भारत जैन महामण्डल द्वारा क्षमावणी पर्व के उपलक्ष में 'विश्व मैत्री दिवस' मनाया गया जिसकी अध्यक्षता मध्यप्रदेश के उपमुख्यमंत्री श्री वीरेन्द्रकुमार सखलेचा ने की। स्वामीजी ने प्रमुख अतिथि के रूप से अपने प्रभावी भाषण में मैत्री के सामान्य नियमों का विवेचन किया और कहा कि मैत्री की सिद्धि विषमता में नहीं होती। राजा और रंक मित्र नहीं बन सकते। यदि भारत विश्व का मित्र बनना चाहता है तो उसे विश्व के अन्य राष्ट्रों के समकक्ष उठना पड़ेगा। उसे दूसरे देशों के समान समर्थ बनना पड़ेगा।

१० अक्तूबर को स्वामीजी बुरहानपुर में थे। ४॥ बजे अपराह्न वहाँ की शासकीय उ. मा. शाला में तथा ६॥ बजे सन्ध्या राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बीच उन्होंने क्रमशः 'विद्यार्जन'

और 'हिन्दू सस्कृति और हमारा कर्तव्य' विषय पर भाषण दिये। उसी दिन रात्रि नवरात्रि व्याख्यानमाला के अन्तर्गत उन्होंने 'आधुनिक विज्ञान की भूमिका में धर्म का चिन्तन' विषय पर अत्यन्त विचार प्रवण भाषण दिया। १६ अक्तूबर को रायपुर के कालीबाड़ी में काली मन्दिर की प्रतिष्ठा के उपलक्ष में उन्होंने 'कालीतत्त्व' पर सारगर्भित विचार व्यक्त किये। २३ अक्तूबर को विवेकानन्द ज्ञान मन्दिर, बैतूल द्वारा भगिनी निवेदिता जन्म शताब्दी समारोह मनाया गया। जब स्वामीजी ने भगिनी निवेदिता के जीवन और कार्यों की विवेचना की।

६ और ७ नवम्बर को गोंदिया में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन में आत्मानन्दजी ने 'योग और आदर्श शिक्षा' पर बडा क्रमबद्ध और विचार प्रवण विवेचन किया। ६ नवम्बर की रात्रि को गोंदिया नगर की ओर से आयोजित समागत महात्माओं के स्वागत समारोह में भी स्वामीजी बोले। ११ नवम्बर को रायपुर के विज्ञान महाविद्यालय द्वारा आयोजित भगिनी निवेदिता शताब्दी समारोह में उन्होंने प्रमुख अतिथि के रूप में भाग लिया।

१५, १६, १७, १८ नवम्बर को स्वामीजी मुजफ्फरपुर (बिहार) में थे। उस अचल के प्रसिद्ध संत विरागीजी महाराज द्वारा आयोजित अध्यात्म सम्मेलन में स्वामीजी ने इन चार दिनों में क्रमशः 'धर्म की वैज्ञानिकता', 'गीता का कर्मयोग', 'भक्ति का सहजयोग' और 'नारी का दायित्व' इन विषयों पर व्याख्यान दिया। २० नवम्बर को रींवा के टाऊनहाल में 'आधुनिक मानव को श्रीरामकृष्ण का सन्देश' इस विषय पर हृदयग्राही चर्चा की। २१ नवम्बर को १० बजे रींवा के शासकीय कला एवं वाणिज्य

महाविद्यालय में 'गीता का कर्मयोग' पर, १२ बजे कृषि महा-विद्यालय में विज्ञान और धर्म' पर तथा २॥ बजे शासकीय महिला महाविद्यालय में 'स्वामी विवेकानन्द और भारतीय नव-जागरण' पर उन्होंने सुन्दर व्याख्यान दिये। इन चार व्याख्यानों ने रींवा के प्रबुद्ध वर्ग में एक आलोड़न पैदा कर दिया।

२३ नवम्बर को भोपाल की विद्यार्थी परिषद् द्वारा भगिनी निवेदिता का जन्म शताब्दी समारोह मनाया गया जिसमें स्वामीजी मुख्य अतिथि थे। उपमुख्यमंत्री श्री वीरेन्द्रकुमार सखलेचा ने इस कार्यक्रम की अध्यक्षता की। ३० नवम्बर को लाहिड़ी महाविद्यालय, चिरमिरी द्वारा आयोजित निवेदिता शताब्दी समारोह में स्वामीजी ने भाग लिया।

० ० ०

आश्रम का वार्षिक समारोह

आश्रम का सातवाँ वार्षिकोत्सव स्वामी विवेकानन्दजी महाराज के १०६ वें जन्मदिवस के उपलक्ष में १४ जनवरी से २८ जनवरी तक मनाया जायेगा। समय— प्रतिदिन सन्ध्या ६। बजे। प्रमुख कार्यक्रम निम्नलिखित हैं—

* १६ से २२ जनवरी तक रामायण प्रवचन।

  वक्ता – भारत प्रसिद्ध रामायणी

  पं. रामकिंकर जी महाराज।

* २२ जनवरी को स्वामी विवेकानन्दजी की जन्मतिथि के उपलक्ष में विशेष पूजा और भजन (दिन में)।

* २३ से २७ जनवरी तक गीता-प्रवचन ।

वक्ता - विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न विदुषी ११ वर्षीया बालिका सरोजबाला ।

* २८ जनवरी को भगवान श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के जीवन और सन्देश पर परिसंवाद ।

कार्यक्रम सबके लिए खुले हैं ।

●

Registered with the Registrar of News Papers
for India under No. R N 7764 / 63

श्रीरामकृष्ण उवाच

भक्त को जो रूप प्रिय है, भगवान् उसी रूप में उसे दर्शन देते हैं। वे भक्तवत्सल जो हैं! पुराण में कहा है कि वीरभक्त हनुमान के लिए उन्होंने राम का रूप धारण किया था। वेदान्त की दृष्टि से रूप-ऊप उड़ जाता है। उसका चरम सिद्धान्त है कि ब्रह्म सत्य है और नाम-रूपों वाला यह जगत् मिथ्या है। जब तक 'मैं भक्त हूँ' ऐसा अभिमान बाकी रहता है तभी तक ईश्वर के रूप का दर्शन और उन्हें एक व्यक्ति समझना सम्भव है। विचार की दृष्टि से भक्त का यह अभिमान उसे ईश्वर से तनिक दूर ही रखता है।

काली अथवा श्यामा (जगदम्बा) का रूप साढ़े तीन हाथ का क्यों है? दूर होने के कारण। दूरी के कारण ही सूर्य छोटा दिखता है। नजदीक जाओ, सूर्य इतना बड़ा दिखेगा कि कल्पना न कर सकोगे। फिर काली या श्यामा का रूप श्याम वर्ण का क्यों है? वह भी दूर होने के कारण। जैसे, सरोवर का जल दूर से हरा, नीला या काला दिखता है, पर समीप जाकर हाथ में उठाकर जल को देखो तो कोई रंग नहीं रहता। आकाश दूर से नीला दिखता है, समीप से देखो तो कोई रंग नहीं।

इसी लिए कहता हूँ, वेदान्त दर्शन के मत से ब्रह्म निर्गुण है। उसका स्वरूप कैसा है यह मुँह से नहीं बतलाया जा सकता। किन्तु जब तक तुम खुद सत्य हो, तब तक जगत् भी सत्य है, ईश्वर के नाना रूप भी सत्य हैं, ईश्वर को व्यक्ति समझना भी सत्य है।

तुम लोगों का रास्ता भक्ति का रास्ता है। यह सहज पथ है। अनन्त ईश्वर को भला क्या जाना जा सकता है? और उनको जानने की ही क्या जरूरत है? यह दुर्लभ नरजन्म पाकर बस मैं तो यही चाहता हूँ कि उनके पादपद्मों में भक्ति हो।

—२८ अक्तूबर, १८८२

Cover Printed at : Shivraj Fine Arts, Nagpur.